उसी के कारण लोगों में एक भ्रान्त धारणा फैली है कि संस्कृत साहित्य में जो कथाएँ कही जाती हैं मानों वे ही रचयिता का लक्ष्य है। परन्तु ऐसी बात न तो पुरातन काल में ही थीं और न विद्यमान काल में ही है। नोवल पुरस्कार विजेताओं के ग्रन्थों में भी कहानियों के द्वारा तत्कालीन समस्याओं के हल का प्रयास अधिकतर गोचर होता है। इस दृष्टि से इस पुस्तक की कथा वस्तु और संस्कृत से नागरी अनुवाद कर संस्कृत न जानने वालों के लिये ऐसा सुन्दर—सरस—तथा उपदेश पूर्ण ग्रंथ जनता के समक्ष रखने के प्रकाशक के सराहनीय प्रयत्न का मैं हृदय से अभिनन्दन करता हूं। ग्रंथ इतना सरल तथा सुबोध है कि मुझे किञ्चित मात्र भी सन्देह नहीं कि जनता इसे अवश्य अपनावेगी।

नागपुर
१०-१२-१९५४

कुंजीलाल दूबे

पुस्तक को शीघ्रतम और सुन्दर छापने के कार्य में "ओसवाल प्रेस" के संचालक श्री महालचन्द जी बैंद का सहयोग सराहनीय है।

शीघ्रता और प्रमाद वश छपने सम्बन्धी त्रुटियों का रह जाना सम्भव है। अतएव उनके लिये पाठक पाठिकाओं से क्षमा याचना करता हूं। जो गुण-ग्राही सज्जन इसकी वास्तविक त्रुटियों को मुझे सूचित करेंगे, उनका सादर आभार मानूंगा और उन त्रुटियों को अगले संस्करण में सुधारने का अवश्य प्रयत्न करूंगा।

नागरी साहित्य संघ
कलकत्ता-१
पौष कृष्णा २ सम्वत २०११

निवेदक—
इन्द्रचन्द्र नाहटा

आस्तिक, भगवद्-भक्ति-निष्ठ मंत्रीने पापबुद्धि राजा को धर्म में श्रद्धालु बनाने के लिए सब कुछ त्याग कर विदेश गया और वहां अपना सदाचरण के प्रभाव से इच्छित-फल-दाता 'कामघट' को प्राप्त करके उसके प्रभाव से राजा को चमत्कृत कर धर्म-निष्ट बनाया, इसी लिए, इस कथा का नाम 'कामघट कथानकम्' हुआ। दूसरी कथा में पुनः अपरिचित दूर देश में जाकर सदाचार के ही बदौलत अधिक प्रभावशाली होकर मंत्रीने धर्म-निष्ठा में बची खुची शंका को दूर कर राजा को दृढ़ धर्म-निष्ट बना दिया। यही कथा का सार है। इस में मानव-जीवनोपयोगी उपदेशप्रद सरल-सुन्दर भाव-गर्भित अनेक श्लोक भी हैं, जिन से पुस्तक की सुन्दरता सुवर्ण में सुगंध की तरह और बढ़ गई है।

संस्कृत में पुस्तक के होने से सर्व साधारण को इसके लाभ से वञ्चित होते देख कर सत्साहित्य के प्रचार और प्रसार के चिराकांक्षी समाज-सेवी श्रीयुत इन्द्रचन्द्र नाहटा ने इसका हिन्दी-अनुवाद करने को मुझे सस्नेह अनुरोध किया था। उसी का परिणाम स्वरूप यह समाज की साहित्यिक सेवा के लिए तैयार है।

पुस्तक का सम्पादन कैसा है, इसका निर्णय गुण-दोष-विवेकी सज्जन पाठक ही करेंगे। भ्रान्तियों का होना कोई असम्भव नहीं। अतः जो महाशय, वास्तविक त्रुटियों की सूचना देंगे, उनका बहुत आभारी बनूंगा और दूसरे संस्करण में तत्संशोधन पूर्वक इसको और सुन्दरतम रूप देने की कोशिश करूंगा।

सहृदय-विधेय :—

गङ्गाधर मिश्र

धर्म चिन्तामणि के समान श्रेष्ठ है, धर्म दूसरा कल्पवृक्ष है, धर्म कामधेनु है, धर्म सब कुछ (अच्छा) देने वाला है ॥ ३ ॥

धर्मतः सकलमंगलावली, धर्मतः सकलसौख्यसम्पदः ।
धर्मतः स्फुरति निर्मलं यशो, धर्म एव तदहो ! विधीयताम् ॥ ४ ॥

धर्म से सारे मंगलों की श्रेणी होती है, धर्म से सारी सुख-संपत्ति प्राप्त होती है, धर्म से यश निर्मल होकर चमकता है, अतएव हे लोगो ! धर्म ही किया करो ॥ ४ ॥

धर्माज्जन्म कुले शरीर—पटुता सौभाग्यमायुर्बलं,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशोविद्यार्थसंपत्तयः ।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सततं धर्मः परित्रायते,
धर्मः सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रदः ॥ ५ ॥

उत्तम कुल में जन्म, नीरोग शरीर, सुन्दर भाग्य, अच्छी आयु पूर्ण बल ये सब धर्म से होते हैं, निर्मल यश, विद्या और धन-दौलत धर्म से ही होती है और महा भयकारी बड़ा भारी जंगल से धर्म हमेसा रक्षा करता है, अच्छी तरह उपासना किया हुआ धर्म निश्चय करके स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला होता है ॥ ५ ॥

व्यसनशतगतानां क्लेशरोगातुराणां,
मरणभयहतानां दुःखशोकार्दितानाम् ।
जगति बहुविधानां व्याकुलानां जनानां,
शरणमशरणानां नित्यमेको हि धर्मः ॥ ६ ॥

सैकडों व्यसन (बुरी आदत) में फंसे हुए, क्लेश और रोग से दुःखी, मरण के भय से डरे हुए, दुःख और शोक से पीड़ित, अनके तरह से व्याकुल (बेचैन) जिनके कोई शरण (आश्रय-सहारा) नहीं है ऐसे लोगों के नित्य धर्म ही एक शरण (सहारा) है ॥ ६ ॥

धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रदः ।

वहां जितारि नामका राजा था, पर वह नास्तिक होने के कारण, जीव-अजीव आदि तत्वों को नहीं मानता था और सात दुर्व्यसनों का सेवी था, जैसे—

द्यूतञ्च मांसञ्च सुरा च वेश्या, पापर्द्धिचौरी परदारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके, घोरातिघोरं नरकं नयन्ति॥ ९॥

जुआ खेलना, मांस खाना, शराब पीना, वेश्या गमन, पाप का धन, चोरी करना, दूसरे की स्त्री की सेवा (व्यभिचार) ये सात व्यसन इस संसार में अत्यन्त कष्ट-प्रद नरक में ले जाते हैं॥ ९॥

पापतः सर्वं भव्यं भवत्येवंविधो बुद्धिमान् स राजा वर्त्तते, तस्य सम्यक्त्वधारी जीवाजीवादितत्त्वविदास्तिको मतिसागराभिधोऽमात्योऽतीवमान्योऽभूत्। कुतो मंत्रिणं विना राज्यमपि नो चलति शोभते च। यतो नीतिशास्त्रेऽप्युक्तम्—

पाप से सब भव्य (अच्छा) होता है, इस तरह का बुद्धिमान् (व्यंग से बेवकूफ) वह राजा था और सम्यक्त्व धारी जीव अजीव आदि तत्वों को जानने वाला आस्तिक बुद्धि वाला मतिसागर नाम का उसका मंत्री था जो अत्यन्त मान्य हुआ। क्योंकि—मंत्री के विना राज्य भी नहीं चल सकता और न शोभा पासकता है। नीति शास्त्र में भी कहा है—

राज्यं निःसचिवं गतप्रहरणं सैन्यं विनेत्रं मुखं,
वर्षा निर्जलदा धनी च कृपणो भोज्यं तथाज्यं विना।
दुःशीला दयिता सुहृन्निकृतिमान् राजा प्रतापोज्झितः,
शिष्यो भक्तिविवर्जितो नहि विना धर्मं नरः शस्यते॥ १०॥

विना मंत्री का राज्य, विना अस्त्र-शस्त्र की सेना, विना आंख का मुख, विना बादल की वर्षा, कंजूस धनी, विना घी का भोजन, व्यभिचारिणी स्त्री, कपटी मित्र, विना प्रताप का राजा, विना भक्ति वाला शिष्य और विना धर्म का मनुष्य नहीं शोभता है॥ १०॥

अथैकदा राजा मंत्रिणं प्रति वदति स्म—राज्यादिकं समस्तं पापेनैव भवति। तदा मंत्र्याह-भो राजन्नेवं मा ब्रूहि, पापफलन्तु प्रत्यक्षमस्मिन् लोके दृश्यते यतः—

इसके बाद एक समय राजाने मंत्री को बोला कि—राज्य आदि सब कुछ (अच्छा) पाप से ही होता है। तब मंत्री ने कहा—हे राजन! ऐसा मत कहो, पाप का फल तो इस लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है। क्योंकि—

पापते जात रसातल मानव पापते अन्ध हुवे नर नारी,
पापते व्याधि रहे अपरंपर पापते भीख भमंत भिखारी ।
पापते खान रु पान मिले नही पापते होत है देह खुवारी,
'सूरिदया' तजि पाप पराभव पुण्य करो मन शुद्ध बिचारी ॥ १५ ॥

इत्यादिहेतोर्मन्त्री तु धर्मादेव सर्वं भव्यं भवतीति मन्यते । यतः-

इत्यादि कारण से मंत्री तो धर्म से ही सब अच्छा होता है, यह मानता था । क्योंकि—

यन्नागा मदवारिभिन्नकरटास्तिष्ठन्ति निद्रालसा,
द्वारे हेमविभूषिताश्च तुरगा हेषन्ति यद्दर्पिताः ।
वीणावेणुमृदंगशंखपटहैः सुप्तश्च यद् बोध्यते,
तत्सर्वं सुरलोकदेवसदृशं धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥ १६ ॥

निद्रा से अलसाए हुए और मदजल से भीजे हुए दांत वाले (मतवाले) हाथियों के झुण्ड द्वार पर रहते हैं और वेगयुक्त (तेजस्वी) घोड़े सुवर्ण आदि अलङ्कारों से युक्त होकर द्वार पर हिनहिनाते हैं और सितार, बांसुरी, पखावज, शंख और नगाड़ों के द्वारा जो सोया हुआ जगाया जाता है, यह सब स्वर्ग में देवता के समान इस लोक में धर्म का ही फल है ॥ १६ ॥

पुना राजानं मंत्र्याह—राज्यादि सुखं निखिलं धर्मेणैव प्रजायते । यतः—

फिर राजा को मन्त्री ने कहा—राज्य आदिक सारा सुख धर्म से ही होता है—क्योंकि:—

राज्यं सुसंपदो भोगाः, कुले जन्म सुरूपता ।
पाण्डित्यमायुरारोग्यं, धर्मस्यैतत्फलं विदुः ॥ १७ ॥

राज्य, अच्छी सम्पत्ति और उसका भोग, उत्तम कुल में जन्म, सुन्दर रूप, पण्डिताई, आयु और नीरोगपना यह सब धर्म का ही फल है ॥ १७ ॥

मिलति पुत्रकलत्रसुखप्रदः, प्रियसमागमसौख्यपरंपरा ।
नृपकुले गुरुता विमलं यशो, भवति धर्मतरोः फलमीदृशम् ॥ १८ ॥

सुख देने वाले पुत्र-स्त्री का मिलना, प्रियजनों का समागम और लगातार सुख का होना, राजकुल में बड़ाई और निर्मल यश यह धर्म रूपी वृक्ष का फल है ॥ १८ ॥

यावज्जीवेत्सुखं जीवे-द्दणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।
भश्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ? ॥ २० ॥

जवतक जीवित रहे तवतक खुव सुख से जीवित रहे और ऋण (कर्जा) लेकर घी पीना चाहिए, क्योंकि मृत्यु के वाद जला हुआ शरीर का फिर आना कहां से ? ॥ २० ॥

वौद्धमतेऽपि च—

वौद्ध के मत में भी—

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया,
मध्ये भक्तं पानकं चापराह्णे ।
द्राक्षा खंडं शर्करा चार्द्धरात्रे,
मोक्षश्चान्ते शाक्यसिंहेन दृष्टः ॥ २१ ॥

सुवह कोमल उज्ज्वल सज्जा पर से उठ कर शराव पीना चाहिए, उसकेवाद दोपहर में भात आदि फिर अपराह्न में (ते पहर में) जलपान आदि और आधी रात में अंगूर, सक्कर और मिश्री खानी चाहिए फिर मोक्ष होता है, ऐसा शाक्य सिंह (वुद्ध) ने देखा था—अर्थात् जिन्दगी में जो खूव खाता पीता और मौज उड़ाता है उसे अन्त में मोक्ष मिलता है ऐसा वुद्ध का मत (सिद्धान्त) है ॥ २१ ॥

इति राजवाक्यं निशम्य मंत्री प्रत्युवाच—हे महाराज ! नैतद्वक्तुं युज्यते, सर्वप्रमाणसिद्ध आत्मा नापलपयितुं शक्यः । यदि च लोकांतरगामी आत्मा न सिद्ध्येत्तदैव 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्' इति भवदुक्तं संगच्छेत । अत आत्मसिद्धिस्तावदाकर्ण्यताम्—'अहं सुखी अहं दुःखी' इति प्रत्यययोगत आत्मा शरीरादिव्यतिरिक्तः प्रतीयते, शरीरादिसंघातानां जडत्वान्न तादृश-प्रतीतिस्तत्र घटते । किंच—'अहं घटं वेद्मि' एतस्मिन् वाक्ये कर्त्ता कर्म क्रिया चेति त्रितयं प्रतिभासते, तत्र कर्मक्रिये स्वीकृत्य कुतः कर्त्ता प्रतिपिध्यते ? जडे शरीरे कर्तृत्वमेव न संभवति, भूतचैतन्ययोगात्तत्र चैतन्यमस्तीति चेदसंगतम् । 'मया दृष्टं श्रुतं स्पृष्टं घ्रातं ज्ञातं स्मृतं भुक्तं पीतमास्वादितम्' इत्येककर्तृका भावा भूतचिद्वादे न संगच्छन्ते चेतनवहुत्वप्रसंगात् । गवादीनां जन्मतः पूर्वं स्वयमेव स्तन्य—पानार्थमुत्तिष्ठति,तदपि जन्मान्तरानुभवं विना न संगच्छते, तेन सिद्ध-मात्मनो लोकान्तरगमनम् ,लोकान्तरगमनसिद्धया शुभाशुभकर्मवन्धोऽपि सिद्धः। कर्मवैचित्र्यात्स्व-

है। इस लिए, वह नास्तिकवाद छोड़ देने ही लायक है। इस तरह मंत्री की बात को सुनकर भी राजा ने अपना बुरा आग्रह नहीं छोड़ा। इसलिए लोक में राजा का नाम पापबुद्धि हुआ और मंत्री का नाम धर्मबुद्धि हुआ। उसके बाद सदा दोनों का पुण्य-पाप के विषय में विवाद होता था और मंत्री तो उस राजा को धर्मात्मा बनाने के लिए नित्य उस राजा के साथ विवाद करता था। क्योंकि--

यात्रार्थं भोजनं येषां, दानार्थं च धनार्जनम्।
धर्मार्थं जीवितं येषां, ते नराः स्वर्गगामिनः॥ २२॥

जो लोग शरीर-रक्षा के लिए भोजन करते हैं और दान के लिए धन कमाते हैं एवं धर्म के लिए जीते हैं वे स्वर्ग में जाते हैं॥ २२॥

अथैकदा हास्ययुक्तवचनेन राज्ञोक्तम्—भो मन्त्रिन्! त्वं बहुतरं पुण्यं मन्यसे, तर्हि तव स्वल्पैव लक्ष्मीः कथं? पुनर्मम पापादेव राज्यादिसुखं कथं जातम्? एतन्निशम्य मन्त्रिणा चिन्तितं खल्वेष जडमतिः, अहह! यो यस्य शुभाशुभस्वभावः पतितः तं कथमपि नैव मुंचति। यतः—

फिर एक समय मसकरी करते हुए राजाने कहा,—हे मंत्री, जब तुम धर्म को अधिक उत्तम मानते हो तब तेरे पास थोड़ी ही लक्ष्मी (धन-दौलत) क्यों है और मेरे पाप से ही राज्य आदि का इतना अधिक सुख क्यों हो गया? यह सुनकर मंत्रीने विचार किया कि यह राजा जड़बुद्धि है, ओह! जिसका जो अच्छा बुरा स्वभाव हो जाता है वह उस स्वभाव को किसी तरह भी नहीं छोड़ता है। क्यों कि—

कर्पूरधूल्या रचितस्थलोऽपि, कस्तूरिकाकल्पितमूलभागः।
हेमोदकुंभैः परिपिच्यमानः, पूर्वान्गुणान्मुंचति नो पलाण्डुः॥ २३॥

कपूर की धूली (रज-चूर्ण) से जमीन (खेत) को अच्छी तरह सुवासित (सुगंधमय) कर दिया जाय और जड़ में कस्तूरी बिछा दिया जाय एवं सुवर्ण के घडों में भरे जल से पटाया—छिड़काया जाय फिर भी प्याज अपने गुणों (दुर्गन्ध-बदबू) को नहीं छोड़ता है॥ २४॥

माधुर्यं चेक्षुखंडे जगति सुरभिता चंपकस्य प्रसूने,
शैत्यं श्रीखंडखंडे भ्रमरपरिकरे चातुरी राजहंसे।

तत्र देशे हि गन्तव्यं, स्वकीयं यत्र नो भवेत् ।
प्रतोल्यां भ्रमतो नित्यं, वार्ता कोऽपि न पृच्छति ॥ २६ ॥

तुम्हें ऐसे देश में जाना चाहिए, जहां अपना कोई न हो और वहां गलियों में घूमते (भटकते) हुए तुम से कोई बात भी न पूछे ॥ २६ ॥

तदाहं ते धर्मफलं वेद्मि नान्यथा, ततः साहसिकेन परोपकारिणा मंत्रिणोक्तमेवमस्तु । यतः-

तब मैं तुम्हारा धर्म-फल जानूं, अन्यथा नहीं। तब साहसी और परोपकारी मंत्री ने कहा—ऐसा हो, क्योंकि—

साहसी लभते लक्ष्मीं, कातरो न कदाचन ।
श्रुतौ हि कुंडलं भाति, नेत्रे भाति हि कज्जलम् ॥ २७ ॥

साहसी (बहादुर) लक्ष्मी प्राप्त करता है, कायर कभी नहीं। क्योंकि—कान में कुण्डल शोभता है और आंख में काजल ॥ २७ ॥

अपि च—

और भी—

उद्यमः साहसं धैर्यं, बलं बुद्धिः पराक्रमः ।
षडेते यस्य विद्यन्ते, तस्माद्देवोऽपि शंकते ॥ २८ ॥

उद्योग, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि और पराक्रम ये छः वस्तुएँ जिसमें विद्यमान हैं, उस से देव भी शंका करते (डरते) हैं ॥ २८ ॥

एवमुक्त्वा मंत्री देशान्तरं चचाल । अथ कियन्मार्गं गच्छन्नेकदा रात्रावटव्यामागतस्य तस्य पुरतः क्षुधाकुलः सन्नहि अम्मीत्यारटन्नेको निशाचरो मिलितः । तदा मंत्रिणा स्वोत्पातबुद्ध्या तस्य दृष्टमात्रस्यवोच्चस्वरैः पूत्कारः कृतः । हे मातुल तुभ्यं मे नमस्कृतिरस्तु, एवं मंत्रिणोक्तस्स कथयति स्म—हे सुनर ! स्वेच्छया त्वं मातुलो मातुल इति मां मा ब्रूहि, यदि पुनर्वक्ष्यस्येव तथाप्यहं त्वामवश्यमेव भक्षयिष्यामि, यतोऽद्याहं सप्तभिर्दिवसैर्बुभुक्षितोऽस्मि । अतः साम्प्रतं धर्माधर्मदयादिविवेकविकलो यथातथा निजोदरं पूरयिष्याम्येव। तदुक्तं च—

अतस्त्वां सर्वथा नैव मुंचामि भक्षयिष्यामेव। इत्याकर्ण्य पुनर्मन्त्री कथयति स्म—हे मातुल! एतावत्प्रसादं कुरु, साम्प्रतं मे महत्कार्यमस्ति तदर्थमग्रे जिगमिषामि, तत्कृत्वा प्रत्यागच्छन्नहं तव क्षुधोपशमं करिष्यामि, अतो विवेकिन्! मां मुंच मुंच। पलादः कथयति स्म—हे मानव! कृष्णशिरसो मायाविनो नरस्य तव को विश्वासः? ततः कथं मरणायात्रैव त्वं मत्पार्श्वे समागच्छेः। मंत्रिणोक्तम्—यद्यहं नागच्छामि, तर्हीमानि पातकानि मे भवन्तु। तानि यथा—परनरसंगं विधाय या स्त्री गर्भशातनं करोति तस्या यत्पातकं तन्मां स्पृशतु, एवमेव व्रतान्यंगीकृत्य पुनस्तद्भञ्जकस्य, यः पितराववगणयति गुरुं चापह्नुते तस्य, विश्वासमुत्पाद्य तद्विश्वासघातकस्य धर्मस्थाने पापपरायणस्य, वनदाहकस्य, अष्टादशपापस्थानाचरितुः, भ्रातृस्वसृमुनीनां घातकस्य, सप्तव्यसनसेविनोऽनृतव्यवहारपरायणस्य, तथा बालधेनुस्त्रीविप्राणां निहन्तुः, स्वगोत्रस्त्रियं यः सेवते तस्य, षट्पदीलिक्षादिक्षुद्रजन्तूनां हिंसकस्य, धर्मनिषेधकस्य, धर्मी भूत्वा धौर्त्येन जगद्वञ्चकस्य, कृतघ्नस्य, अन्येषां प्राणिनां कुमार्गयोजकस्य, गुरुदेवज्ञानद्रव्याणां भक्षकस्य, पूजनीयगुर्वादीनां पराभवकर्त्तुश्चेत्यादीनां यानि जगति महान्ति पातकानि तानि सर्वाणि चेदहं नायामि तर्हि मां स्पृशन्तु। एवमुक्तरूपां मंत्रिवाचं श्रुत्वा विश्वस्तेन तेनापि तस्य मन्त्रिणः पुण्यप्रभावाद् गमनाज्ञा दत्ता, ततः समासाद्याज्ञां सहर्षोऽग्रे मन्त्री प्रतस्थे। अथ मार्गे गच्छता तेन कस्याञ्चिन्नगरासन्नवनवाटिकायां श्री ऋषभदेवस्वामिप्रासादो दृष्टः। तत्र गत्वातिभावनापूर्विकां विध्युपेतां जिनेश्वरपूजां विधायातिहृष्यन् स्वहृदयोद्भूतसद्भावेन वीतरागगुणवर्णनस्तुतिं पठति स्म। तद्यथा—

इस लिए मैं तुमको किसी तरह नहीं छोड़ सकता, खाऊंगा ही। यह सुनकर फिर मंत्री कहने लगा—हे मामा, इतनी दया तो करो, अभी मुझे बड़ा जरूरी काम है, उसके लिए कुछ दूर आगे जाना चाहता हूं, उस कार्य को करके लौटता हुआ मैं तुम्हारी भूख अवश्य मिटाऊँगा। इस लिए हे विवेकी, मुझे अभी छोड़ दो-छोड़ दो। फिर, मांसाहारी (राक्षस) कहने लगा—हे मानव, काले शिर वाले मायावी मनुष्य तुम्हारा विश्वास क्या? सो तुम मरने के लिए मेरे पास यहीं क्यों आओगे? मंत्रीने कहा—यदि मैं लौट कर आपके पास नहीं आऊं, तो मुझे ये पाप हों। वे ये हैं, जैसे दूसरे पुरुष से संग करके जो स्त्री गर्भ गिराती है, उसको जो पाप लगते हों वे पाप मुझे हो। इसीतरह व्रती को व्रत भंग करने से जो पाप होता है, माता-पिता और गुरु का निरादर करने से जो पाप लगता है, विश्वासघाती को जो पाप लगता है, तीर्थ आदि में पाप करने से जो पाप होता है, वन के जलाने वाले को, अठारह

दीपैर्ज्ञानमनावृतं निरुपमा भोगर्द्धिरत्नादिभिः,
सन्त्येतानि किमद्भुतं शिवपदप्राप्तिस्ततो देहिनाम् ॥ ३३ ॥

भगवान् जिनेश्वर को वस्त्रों से पूजा करने से वस्त्र की संपत्ति बढ़ती है, अलंकार से पूजा करने से अनेक तरह के अलङ्कार प्राप्त होते हैं, फूलों से पूजा करने से बड़ा पद प्राप्त होता है, गंधों (सुगंधों) से पूजा करने से अच्छी गंध की वृद्धि होती है, दीप से पूजा करने से स्पष्ट, ज्ञान प्राप्त होता है, रत्न आदि से पूजा करने से अत्यन्त भोग-सुख की वृद्धि होती है, इतने हुए तो आश्चर्य क्या ? भगवान् की पूजा करने से संसारिक सभी सुख के मिलने के बाद अन्त में मुक्ति भी मिलती है ॥ ३३ ॥

न यान्ति दास्यं न दरिद्रभावं, न प्रेष्यतां नैव च हीनयोनिम् ।
न चापि वैकल्यमथेन्द्रियाणां, ये कारयन्त्यत्र जिनेन्द्रपूजाम् ॥ ३४ ॥

जो प्राणी भगवान् जिनेश्वर की पूजा करवाते हैं, उन्हें नौकरी नहीं करनी पड़ती, वे दरिद्र नहीं होते, सेवक नहीं होते और न नीच योनि में पैदा होते, और उन्हें इन्द्रियों की विकलता भी नहीं होती ॥ ३४ ॥

देव ! त्वं दुःखदावाग्नि-तप्तानामिह वारिदः ।
मोहान्धकार-मूढाना - मेक-दीपस्त्वमेव हि ॥ ३५ ॥

हे भगवान्, जिनेश्वर, दुःख रूपी वन की अग्नि से जले हुए लोगों के लिए तुम सजल मेघ के समान हो और मोह रूपी अन्धकारों से विमूढ़ लोगों के लिए तुम ही एक (ज्ञान रूपी) दीप हो ॥ ३५ ॥

आयुष्यं यदि सागरोपममितं व्याधिव्यथावर्जितं,
पाण्डित्यं च समस्तवस्तुविषयं प्रावीण्यलब्धास्पदम् ।
जिह्वा कोटिमिता च पाटवयुता स्यान्मे धरित्रीतले,
नो शक्नोमि तथापि वर्णितुमलं तीर्थेशपूजाफलम् ॥ ३६ ॥

यदि मेरी आयु शारीरिक और मानसिक रोगों से रहित एक सागरोपम वर्ष प्रमाण हो और सारे पदार्थों के ज्ञान की निपुणता को प्राप्त करने वाली पण्डिताई मुझ में हो जाय, और इस भूतल पर वाक्

ध्यायामि नो निधिमनर्घ्यगुणातिरेक—
माद्यं जिनेश्वरमहर्निशमेव सेवे ॥ ४० ॥

मैं चिन्तामणि को नहीं चाहता, कल्पवृक्ष की चाहना भी नहीं है और न कामधेनु को ही देखना चाहता हूं न धन-दौलत का ही ध्यान है, किन्तु एक यह कि—अमूल्य गुणों से युक्त भगवान् आदि जिनेश्वर को ही दिन-रात सेवा करूं ॥ ४० ॥

इत्यादिस्तुत्या प्रमुदितः प्रतिमारक्षः कपर्दियक्षः प्रत्यक्षो बभूव। तेन जिनभक्तिस्तुति-सन्तुष्टेन बहिर्गत्वा मंत्रिणे कामघटः समर्पितः। तदा मन्त्रिणोक्तम्—भो यक्षेन्द्र ! अहमेनं घटं कथं गृह्णामि कुत्र वा स्थापयामि ? अनेन समीपस्थेन पुरुषस्य लज्जा स्यात्। ततो देवेनोक्त-मनुत्पाटित एवादृष्टस्सन्नयं घटस्तव पृष्ठे समागमिष्यति, पुनस्तेऽयं मनोवाञ्छितार्थं पूरयिष्यति। एतन्मन्त्रिणापि स्वीकृतं, ततः स मन्त्री कृतकृत्यस्सन् कामकुम्भं लात्वा स्वनगरं प्रति चलितो मार्गे विचारयति स्म—ममेदं धर्मस्य महात्म्यं, धर्मेण विना नरोऽपि न शोभते, यथेष्टं च कार्यं किमपि न स्यात्। यतः—

इत्यादि स्तुति से प्रसन्न होकर प्रमिता का रक्षक महादेव का यक्ष प्रत्यक्ष (सामने) हुआ। और उस यक्षने भगवान् की भक्ति भरी स्तुति से खुश होकर बाहर जाकर मंत्री को 'कामघट' दिया। तब मंत्रीने कहा – हे यक्षराज, मैं इस कामघट को किसतरह ग्रहण करूं या कहां स्थापन करूं? क्योंकि इसके पास में रहने से पुरुष को लज्जा होगी। तब यक्षने बोला कि—बिना उठाए हुए ही यह अदृश्य होकर तुम्हारे पीछे जायगा और यह तुम्हारा सारा मनोरथ पूरा कर देगा। यह मंत्रीने भी स्वीकार कर लिया। अनन्तर वह मंत्री कृतकृत्य (कार्य में सफल) होकर कामघट को लेकर अपने नगर की ओर चला और रास्ता में विचारने लगा—मुझे यह धर्म का ही माहात्म्य है, धर्म के बिना मनुष्य शोभा नहीं पाता, और उसकी इच्छाएँ कुछ भी पूरी नहीं हो पाती है ; क्योंकि—

निर्दन्तः करटी हयो गतजवश्चन्द्रं विना शर्वरी,
निर्गन्धं कुसुमं सरो गतजलं छायाविहीनस्तरुः।
भोज्यं निर्लवणं सुतो गतगुणश्चारित्रहीनो यतिः,
निर्द्रव्यं भवनं न राजति तथा धर्मं विना मानवः ॥ ४१ ॥

और इधर आगे (सामने में) राक्षस भी मिला, उसी समय उसने कहा—हे नरश्रेष्ठ, अपनी बात को पालन (पूरा) करो। क्योंकि—

संसारस्य त्वसारस्य, वाचा सारा हि देहिनाम् ।
वाचा विचलिता यस्य, सुकृतं तेन हारितम् ॥ ४४ ॥

इस असार संसार में प्राणियों की वाणी ही सार है, जिसने अपनी वाणी से विचलित (अलग) हुआ उसने अपना पुण्य गमा डाला ॥ ४४ ॥

मन्त्रिणोक्तं यथाऽस्तु पालयिष्यामि परं किमनेन मेऽशुचिशरीरेण भक्षितेन ? । यतः—

मंत्रीने कहा, ऐसा ही हो' मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करूंगा। लेकिन, इस अपवित्र मेरे शरीर के खाने से तुझे क्या लाभ ? क्योंकि—

रसाऽसृग्मांसमेदोऽस्थि - मज्जाशुक्राणि धातवः ।
सप्तैव दश वैकेषां,रोमत्वक्स्नायुभिः सह ॥ ४५ ॥

अमेध्यपूर्णे कृमिजालसंकुले, स्वभावदुर्गन्ध अशौचनिह्नवे ।
कलेवरे मूत्रपुरीषभाजने, रमन्ति मूढा विरमन्ति पण्डिताः ॥ ४६ ॥

अजिनपटलगूढं पिंजरं कीकसानां,
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहम् ।
कुणपकुणपिगन्धैः पूरितं बाढगाढं,
कथमिव मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ? ॥ ४७ ॥

रस, रक्त, मांस, मेद (चर्बी) अस्थि (हड्डी), मज्जा और शुक्र (वीर्य) इन सात धातुओं से अथवा किन्ही के मत से रोम (रोगंटे) त्वचा (चामड़ी) और स्नायु (नसें) इन तीनों से युक्त दश धातुओं से बने हुए, अपवित्रता से भरे हुए कीड़ों के समुदाय से युक्त स्वभाव से ही दुर्गन्धि वाले अपवित्रता जिसमें छिपी है ऐसे मूत्र-पुरीष (पेशाब-पाखाना) के घर इस शरीर में मूढ़-मूर्ख लोग रमण (प्रेम) करते हैं और पण्डित (बुद्धिमान्) लोग रमण नहीं करते हैं। (हड्डियों के ढांचा का पिंजरा चर्म के समूह से गूढ़ (ढंका हुआ) है। यमराज के मुंह में रहा हुआ, रोग रूपी सर्पराज का घर, यूं और खटमल के जैसी गंधों से पूर्ण यह शरीर किस तरह किसी की प्रीति (राग) के लिए हो सकता है—अर्थात् यह नश्वर-अपवित्र दुर्गन्धयुक्त शरीर किसी भी बुद्धिमान के प्रीति के योग्य नहीं है)॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

चिन्तामणिः कामकुम्भः, सुरभिः सुरपादपः ।
कनकं रजतं तिष्ठेत्, नैव पापिनिकेतने ॥ ४९ ॥

चिन्तामणि, कामघट, कामधेनु, कल्पवृक्ष, सोना और चांदी पापीके घरमें कभी नहीं रहते ॥ ४९ ॥

तदा निशाचरेणोक्तम्—अहं सम्यक् प्रयत्नेनैनं स्थापयिष्यामि, इत्युक्ते मन्त्रिणा दंड-प्रभावं स्वोपयोगिनं ज्ञात्वा पुनश्चिन्तितं स्वमनसि—यद्यहमस्य प्रार्थनाभंगं विधास्ये तर्हि मे सर्वतो नीचपदत्वमापत्स्यते । यतः—

तब राक्षने कहा—मैं अच्छीतरह यत्नपूर्वक इस (कामघट) को रखूंगा। इसतरह राक्षस के कहने पर मंत्रीने दण्ड के माहात्म्य को अपने लिए उपयोगी जानकर फिर मनमें विचार किया यदि मैं इसका प्रार्थना भंग करता हूँ तो मैं सभी तरह नीच पद को प्राप्त हो जाउंगा। क्योंकि -

तण लहुयं तुस लहुयं, तणतुसमज्झे वि पत्थणालहुयं ।
ताहं चिय कुण लहुयं, पत्थणभंगो कओ जेण ॥ ५० ॥

(संस्कृत छाया)—

तृणं लघुकं तुषो लघुकः तृणतुषमध्येऽपि प्रार्थना लघ्वी ।
तस्माच्चैव को लघुः प्रार्थना-भंगः कृतो येन ॥ ५० ॥

तृण (तिन का) लघु (क्षुद्र-छोटा) है, तुष (भूसा-अन्न के ऊपर का छिलका) क्षुद्र है और तृण-तथा तुस से भी प्रार्थना छोटी है—क्षुद्र है। और उससे भी लघु कौन है जिसने प्रार्थना का भंग किया? अर्थात् किसी की प्रार्थना (मांगना-भिक्षा) का भंग करना सब से अधिक क्षुद्रता है-नीचता है या हलकापन है या अत्यन्त लघुता है, कहा भी है—

"रहिमन वे नर मरचुके जे कछु मांगन जांहि ।
उनते पहले वे मुए जिन मुख निकसत नांहि" ॥ ५० ॥

इति विचिन्त्य स तं घटं तस्मै समर्पयित्वा तद्दत्तं दंडं गृहीत्वा चाग्रे चचाल। अथ तस्य मन्त्रिणो गच्छतो द्वितीयदिवसे बुभुक्षा लग्ना, तदा तेन दंडो लपितः—हे दंड ! त्वं मे भोजनं दास्यसि नवा ? तेनोक्तम्—भोजनदाने मे सामर्थ्यं नास्ति। अथैवं क्षुत्पीडायामाहारनिषेधवार्तां

किं किं न कयं को न पुच्छिओ, कह कह न नामिअं सीसं ।
दुब्भरउअरस्स कए किं न कयं किं न कायव्वं ॥ ५३ ॥

(संस्कृत छाया)—

किं किं न कृतं को न पृच्छितः, कुह कुह न नामितं शीर्षम् ।
दुर्भरोदरस्य कृते, किं न कृतं किं न कर्त्तव्यम् ॥ ५३ ॥

इस पापी पेट को पूरा करने के लिए क्या क्या नहीं किया ? किसको नहीं पूछा ? कहां कहां मस्तक नहीं नवाया ? और क्या नहीं किया ? और क्या नहीं करूंगा ? अर्थात् सब कुछ किया और करना भी पड़ेगा—केवल इस पापी पेट के लिए ही—आचार्य शंकरने भी लिखा है—

"उदर-निमित्तं बहु-कृत-वेषः" ॥ ५३ ॥

प्रहरे दिवसे जाते, क्षुधा संबाधते तनुम् ।
धैर्यकार्यविनाशः स्या—त्त्वां विना म्रियतेऽशन ! ॥ ५४ ॥

हे भोजन देव, एक पहर दिन उठते ही भूख मेरे शरीर को बहुत तकलीफ देती है और तेरे बिना धैर्य और कार्य तो नष्ट होते ही हैं पर प्राणी भी मर जाता है। कहा भी है—

भूखे भजन न होंहि गोपाला ।
लो यह अपनी कंठी माला ॥ ५४ ॥

अपि च—

और भी—

जीवंति खग्गछिन्ना, अहिमुहपडिया वि केवि जीवंति ।
जीवंति जलहिपडिआ क्षुहाछिन्ना न जीवंति ॥ ५५ ॥

तलवार से काटे गए प्राणी प्रायः जी सकते हैं, सर्प के मुंह में पड़े हुए भी कोई जीते हैं और कोई समुद्र में गिरे हुए प्राणी प्रायः जी जाते हैं मगर भूख रूपी महा शस्त्र से काटे हुए प्राणी कभी जिंदे नहीं रह सकते ॥ ५५ ॥

मन्त्रिवाक्यमेवं निशम्य दंडोऽवदत्—अन्यत्किमपि कार्यं कथय तदहं करिष्यामि, तर्हि कामघटमानयेति मन्त्रिणोक्ते समानयामीत्युक्त्वाऽऽकाशमार्गेण दंडश्चचाल, गतस्तत्र यत्र राक्षसः ।

पूजाभक्तिभिः सधर्मिवात्सल्यैर्मुनिभ्यो बहुतरैर्दानसम्मानैश्च सम्यग् जैनशासनोन्नतिं विधाय स्व-जन्मसाफल्यं मन्यमानः शास्त्रवर्णिततीर्थयात्राफलभावनां भावयमानस्तीर्थं तुष्टाव ।

इस लिए उस पापी के पास थोड़ी भी मुझे समाधि (सुख चैन) नहीं हुई। फिर कामघटने भूख से पीड़ित मंत्री को इच्छित भोजन दिया, बाद में दोनों चीजों को लेकर मंत्री आगे चला। अब इसी बीच में पूरब देश का.एक बड़ा सेठ अधिक मुनाफा प्राप्तकर एक लाख मनुष्यों का एक संघ निकाल कर शत्रुंजय आदि पंचतीर्थों की यात्रा के लिए उसी संघ के साथ निकला। वे संघ के लोग रास्ते में मिले हुए ग्राम-तीर्थों की वंदना करते हुए शत्रुंजय में आए। वहां भगवान् ऋषभ जिनेश्वर के गिरनार में और नेमि भगवान के अष्टाह्निक महोत्सव के साथ पूजा-भक्ति के द्वारा और सामीवच्छलों से मुनिवरों को अनेक तरह के दान और सम्मान से अच्छी तरह जिन शासन की उन्नति करके अपने जन्म को सफल मानते हुए शास्त्रों में कहे हुए तीर्थयात्रा के फलों की भावना को विचारते हुए तीर्थ की स्तुति करने लगे।

यतः—

क्योंकि—

आरम्भाणां निवृत्तिर्द्रविणसफलता संघवात्सल्यमुच्चै—
नैर्मल्यं दर्शनस्य प्रणयिजनहितं जीर्णचैत्यादिकृत्यम् ।
तीर्थौन्नत्यं नितान्तं जिनवचनकृतिस्तीर्थसत्कर्मकृत्यं,
सिद्धेरासन्नभावः सुरनरपदवी तीर्थयात्राफलानि ॥ ५७ ॥

तीर्थों की यात्रा करने से आरंभ (कर्मों) की निवृत्ति होती है, द्रव्य मिलता है, संघ में सद्भाव होता है, दर्शन की निर्मलता होती है, प्रेमी जनों के हितकारी होता है, जीर्ण चैत्य का पुनरुद्धार होता हैं, तीर्थों की अत्यधिक उन्नति होती है जिनेश्वर के वचन पाले जाते हैं, तीर्थों में सत्कार्य का काम होता है, सिद्धि नजदीक आती है, देवता या मनुष्य की योनि प्राप्त होती है ॥ ५७ ॥

छट्ठेणं भत्तेणं, अपाणएणं तु सत्तजत्ता य ।
जो कुणइ सत्तुंजए, सो तइए भवे लहइ सिद्धिं ॥ ५८ ॥

(संस्कृत छाया)—

षड्भिः भक्तैः अपानकैः तु सप्त यात्राश्च ।
यः करोति शत्रुंजये स तृतीये भवे लभते सिद्धिम् ॥ ५८ ॥

जो प्राणी शत्रुंजय तीर्थराज में भक्तिपूर्वक निर्जलाहार रहकर छठ (तपस्या विशेष) करता है और सात वार यात्रा करता है वह तीसरे जन्म में सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

विधाय तेन संघेन सह क्षेमकुशलादिवार्तालापो विहितः। ततस्तेन मन्त्रिणा शास्त्रविचारदृष्टया महालाभं बुध्वा स्वपार्श्वस्थं कामघटानुभावं विदित्वा च शुद्धभावनयातिबहुमानेन सहर्षभरेण स्वामिवात्सल्याय संघो निमन्त्रितः। कुतः शास्त्रे संघभक्तिफलमेवमुक्तम्—

इसतरह श्रीसंघ व तीर्थ की स्तुति करके और शुद्ध भावना करके वाद में वहां से लौटता हुआ रास्ता में एक गाँव के पास ठहर गया। इसी समय उस मंत्रीने उसी मार्ग में जाता हुआ उस संघ को देखा और देखकर अत्यन्त खुश होकर उसने 'जयजिनेद्र' इस भगवान् के नाम को कहता हुआ नमस्कार करके उसी संघ के साथ कुशल-मंगल की बातचीत की। फिर उस मंत्रीने शास्त्र के विचारों की दृष्टि से बहुत लाभ समझ कर अपने पास में रहे हुए कामघट के माहात्म्य को जानकर शुद्ध भावना द्वारा बहुत मान पूर्वक हर्षित होकर स्वामी वात्सल्य (सामी वच्छल) के लिए संघ को निमन्त्रण (न्योता) दिया। क्योंकि शास्त्र में संघ-भक्ति का फल ऐसा कहा गया है :—

कदा किल भविष्यन्ति, मद्गृहांगण - भूमयः।
श्रीसंघ-चरणाम्भोज — रजोराजि-पवित्रिताः ॥ ६२ ॥

रुचिर-कनक-धाराः प्रांगणे तस्य पेतुः,
प्रवर-मणि-निधानं तद्गृहान्तः प्रविष्टम्।
अमर-तरु-लतानामुद्गमास्तस्य गेहे,
भवनमिह सहर्षं यस्य पस्पर्श संघः ॥ ६३ ॥

प्राप्तं जन्मफलं जने निजकुलाचारः प्रकाशीकृतः,
पुण्यं स्वीकृतमर्जितं शुचियशः शुभ्रा गुणाः ख्यापिताः।
दत्ता दुःखजलाञ्जलिः शिवपुरद्वारं समुद्घाटितं,
यैः सिद्धान्त-नयेन शुद्ध-मनसा श्रीसंघ-पूजा कृता ॥ ६४ ॥

मेरे घर के आंगन की भूमि श्रीसंघ के चरण-कमल के रज की ढेर से पवित्र कब होगी?

जिसके मकान को श्रीसंघ हर्षित होकर स्पर्श (प्रवेश) करता है, उसके आंगन में सोने की वर्षा होती है और घर के भीतर अच्छे मणियों की ढेर लग जाती है एवं उसके घर में कल्प वृक्ष उत्पन्न हो जाता है।

परं तमेकाकिनं दृष्ट्वा तन्निमन्त्रणा तैस्संघलोकैर्न मानिता, रन्धनं च प्रारब्धं किमेकाकिनो निःस्वस्य निमन्त्रणेनेति ।

लेकिन उसको अकेला देखकर उसके निमन्त्रण को उन श्रीसंघ के लोगों ने नहीं माना और अपनी रसोई रांधना शुरु किया, यह समझ कर कि इस अकेला दरिद्र के निमन्त्रण से इस बड़े श्रीसंघ के लोगों को क्या होने का है ?

यत :—

क्योंकि :—

ब्रह्मचारी मिताहारी, विनिन्द्रः शून्यमानसः ।
निःसङ्गो निष्परीवारी, भाति योगीव निर्धनः ॥ ६७ ॥

ब्रह्मचारी, अल्प (परिमित) भोजन करने वाले, निद्रा रहित, शून्य-चित्त-वाले, अकेला और परिवार रहित जैसे योगी शोभता उसी तरह निर्धन (दरिद्र-गरीब) भी शोभता (रहता) है ॥ ६७ ॥

एवं संघलोकानां वार्तामवगत्य ततो मन्त्रिणापि जलघटं गृहीत्वा संघमध्यस्थचुल्हिकेषु वारि निक्षिप्तं, उक्तं चाद्य केनापि रन्धयित्वा न भोज्यं, तथाविधमसमंजसं दृष्ट्वा व्याकुलीभूताः संघपत्यादयो जनास्संभूय चिन्तयन्ति स्म ।

इसतरह संघ के लोगों की बात को जानकर मंत्रीने भी जल से भरे घड़े को लेकर संघ के जलते हुए चुल्हाओं में पानी डाल दिया और कहा कि—आज किसी आदमी को रांधकर अपने यहां नहीं खाना चाहिए। इसतरह के असमंजस (गड़बड़ी) देख कर व्याकुल हुए संघपति आदि इकठ्ठा होकर विचार करने लगे :—

यतः :—

क्योंकि :—

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
विचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं,
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ ६८ ॥

परिधापितः। अथ चमत्कारपूरितेन संघपतिना पृष्टं ? भोः पुरुषोत्तम ! त्वयैतावत्कस्य बलेन कृतं ?, तदाऽमात्येनोक्तं कामघटबलेन। मन्त्रिणोक्तकामघटप्रभावं निशम्य लोभाभिभूतेन संघपतिनोक्तं—यदि मह्यं कामघटमर्पयिष्यसि तर्हि सर्वदा साधर्मिकवात्सल्यपुण्यं ते भविष्यति, त्वन्तु धर्मार्थी दृश्यसे।

इसलिए आज हम लोग क्या करेंगे ? यह तो अपना पेट भरने में भी असमर्थ है और हम लोगों को भी रांधने को मना करता है। तब उस संघ के बीच से किसी बूढ़े ने कहा—हे संघपति आदि लोको ! इस आग्रह करने वाले का भी आशाभंग मत करो—आज ऐसा ही हो, यह अपनी शक्ति से जो कुछ लवंग, सुपारी-जल आदि भी देगा वही खाकर हम लोग रहेंगे। और क्या करें ? इस लिए आप लोग आज्ञा दे दीजिए। इसतरह बूढ़े की बात सुनकर संघपतिने मंत्री को आज्ञा दे दी। आज्ञा लेकर हर्ष के साथ मंत्री अपने यहां आया और भगवान् की पूजा आदि करने लगा संघ के लोगों को कुछ अधिक देर तक भोजन के लिए नहीं बुलाया, उससे संघ के सभी लोग व्याकुल होकर विचार-सागर में डूबकर कहने लगे कि क्या आज यह हम लोंगों को भोजन देगा या नहीं ? इधर मंत्रीने भी आकर लोगों को बुलाया, संघ के लोग भी शक-संदेह करते हुए उसके कहे हुए जंगल के स्थान की ओर चले। आगे जाते हुए संघ के लोग उत्तम चादर बिछा हुआ सुन्दर मंडप को कुछ दूर से ही देखकर खुश और विस्मित (चकित) होकर एक दूसरे से पूछने लगे—क्या यह मंडप है या स्वर्ग का विमान है ? यह सत्य है या मिथ्या है ? या हम लोगों का दृष्टिभ्रम है ? या मृगतृष्णा है, या इन्द्रजाल है, किंवा रात में देखे हुए स्वप्न की तरह यह क्या है ? इसतरह विचार करते हुए वे सब लोग उस मंडप के पास गए और हाथ से मंडप को देखने लगे। इधर संघ के प्रधान ने भी सब को यथायोग्य जगह पर बैठा दिया। उसके बाद कामघट के प्रभाव से सब के आगे सोने की थालियां देकर सोलहों श्रृङ्गार से सजी हुई एक सौ आठ सुर सुन्दरियों ने फल आदि अनुक्रम से अपूर्व दिव्य रसोई परोसी। उसके सभी आश्चर्य कारक चीजों को देखकर वे लोग आपस में पूछने लगे—ऐसे मजेदार फल और ऐसी रसदार मिठाई किसीने कहीं कभी देखी या खाई ? दूसरे ने कहा—कहीं नहीं। भोजन के बाद धोती पाग-दुपट्टे और सोने के कुण्डल हार आदि आभूषण सारे श्रीसंघ को पहना दिया। अब आश्चर्ययुक्त होकर संघपति ने मंत्री से पूछा—हे पुरुष श्रेष्ठ ! तुमने इतना किसके बल से किया ? तब मंत्री ने कहा—कामघट के बल से। मंत्री से कहे हुए कामघट के प्रभाव को सुनकर लोभ से ग्रसित संघपति ने कहा—यदि मुझे तुम कामघट दे दोगे तो तुमको साधर्मिक वात्सल्य (प्रेम) का पुण्य होगा, तुम तो पुण्यात्मा दीखते हो। क्योंकि—

लक्ष्मीः परोपकाराय, विवेकाय सरस्वती।
सन्ततिः परलोकाय, भवेद्धन्यस्य कस्यचित् ॥ ७० ॥

अथ द्वितीयदिवसे बुभुक्षितो मन्त्री दण्डं प्रति वक्ति स्म—भो दण्ड ! सर्वतोऽप्यशुभाऽसह्यवेदनाकारी क्षुधा मां बाधते ।

अब दूसरे दिन भूखा मंत्री दण्ड को कहने लगा—हे दंड ! सब से भी खराब, नहीं सहन करने योग्य वेदना वाली क्षुधा (भूख) मुझे सता रही है ।

उक्तं च—

कहा भी है—

क्षुधे ! रण्डे ! ब्रवीषि त्वं, मातर्भ्रातर्भगिन्यये ! ।
बहिष्कृतं हतं लोके, स्वस्थानं ह्यानयस्यहो ! ॥ ७२ ॥

अरी रांड ! भूख ! हे माई, हे भाई और हे बहन, तू ही बोलती है, लोक में समाज से बाहर किये गए ओर दूर हटाए गए को तू ही अपने स्थान में लाती है, आश्चर्य है ॥ ७२ ॥

अपि च—

और भी—

गीतं नाद-विनोद-पिण्डत-गुणाः श्रीखंड-कांताधराः,
अश्व-स्यन्दन-नाग-भोग-भवनं कर्पूर-कस्तूरिके ।
रामा-रंग-विनोद-काव्य-करणं कामाभिलाषाऽपि च,
सर्वे ते हि पतन्ति कन्दर-दरे ह्यन्नं विना सर्वथा ॥ ७३ ॥

मन हरण करने वाले अच्छे आवाज (स्वर) से युक्त गाना, पण्डितों के गुण, श्रीखण्ड (चन्दन), रमणी का अधर-ओष्ठ, घोड़े, रथ, हाथी, भोग-विलास और महल, कर्पूर, कस्तूरी, विलासिनी-सुन्दरियों के साथ क्रीड़ा, (खेल-कौतुक), काव्य का आनन्द, और काम की अभिलाषा ये सब अन्न के विना कंदर दरी (पहाड़ के गड्ढे) में जा गिरते हैं ॥ ७३ ॥

अतो मह्यं भोजनं देहि दण्डेनोक्तम्—ममैतन्न सामर्थ्यं, यदि त्वं वदेस्तर्हि भोजनदं कामघटमानयामीत्युक्ते मन्त्री मौन एव स्थितः । ततो दण्डः स्वयमेव कामघटमानेतुं पक्षिवदाकाशे समुड्डीय संघमध्ये गतः । पार्श्वस्थान् सुभटानाहत्य तेषां खड्गखेटकादीन् तिरस्कृत्य

निर्लोभोऽनुचरः स्वबन्धु-सुमुनि-प्रायोपयोग्यं धनं,
पुण्यानामुदयेन सन्ततमिदं कस्याऽपि संपद्यते ॥ ७५ ॥

प्यारी स्त्री, विनीत पुत्र, गुणी भाई, स्नेह करने वाला बान्धव, चतुर मित्र, खुशदिल स्वामी, लोभ रहित सेवक, अपने कुटुम्ब-परिवार और साधु-संत के योग्य धन, ये सब पुण्य के उदय से ही किसी को होते है ॥ ७५ ॥

तथा च—

और उसीतरह—

यत्कल्याणकरोऽवतारसमयः स्वप्नाश्च जन्मोत्सवो,
यद्रत्नादिक - वृष्टिरिन्द्र - जनिता यद्रूप-राज्य-श्रियः ।
यद्दानं व्रतसंपदुज्ज्वलतरा यत्केवलश्रीर्नवा,
यद्रम्यातिशया जिने तदखिलं धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥ ७६ ॥

जिनेश्वर भगवान् में जो कल्याण कारी अवतार का समय हुआ, चौदह स्वप्न हुए, जन्म का महोत्सव हुआ, इन्द्र के द्वारा जो रत्न आदि की वर्षा हुई और जो रूप तथा राज्य की शोभा हुई, जो दान हुए तथा उज्ज्वल व्रतों की संपत्ति हुई और जो नई केवल ज्ञान की संपत्ति हुई तथा जो सुन्दर अतिशय हुए वह सब धर्म का ही माहात्म्य है ॥ ७६ ॥

स मन्त्र्येवं धर्ममहिमानं विमृशन् परदेशादल्पदिनैरेव स्वगृहमाजगाम । अथ स राजा मन्त्र्यागमनं विज्ञाय तस्मिन्नेव दिवसे तस्य धर्माधर्मपरीक्षाकरणार्थं वीजपूरकद्वयमानाय्यैकस्य वीजपूरकस्य मध्ये सपादलक्षमूल्यं रत्नं क्षिप्त्वैकस्य जनस्य हस्ते विक्रयार्थं समर्पितवान्, तस्मै चोक्तम्—शाकचतुस्पथे शाकविक्रयकारिणे त्वयैतत्समर्पणीयम् । यावत्पर्यन्तमेतत्कोऽपि न गृह्णीयात्तावत्त्वया तत्रैव प्रच्छन्नवृत्त्या स्थेयम् । यदा कोऽपि गृह्णीयात्तदा तस्याऽभिधानं मदग्रे वाच्यं, तेन जनेन समस्तं तथैव स्वीकृतम् ।

वह मंत्री इसतरह धर्म की महिमा को विचार करता हुआ परदेश से थोड़े ही दिनों में अपने घर में आगया । अनन्तर वह राजा मंत्री का आना जानकर उसी दिन में उसके धर्म-अधर्म की परीक्षा करने के लिए दो वीजपूरक (अमरुद) मंगवा कर एक के वीच में सवा लाख मूल्य का एक रत्न डालकर वेचने

यावान्मेलापकोऽस्ति तावन्तं मेलापकं गृहीत्वा मद्गृहे समागन्तव्यम्। नूनं यथायोग्ययुक्त्या भवन्तमहं भोजयिष्यामि। एतन्निशम्य राजा चिन्तयपि स्म अहो! वणिग्मात्रस्य मन्त्रिणः कियत्साहसं? नूनमेतेन मम मेलापकः पानीयमपि पाययितुं न शक्यते। एतत्तु पिपीलिकागृहे गतगजराजप्राघूर्णकवद् ज्ञेयं। अतः किं पुनर्भोजनं कारयितुं शक्यते?, तदा रुष्टेन राज्ञा मन्त्रिवार्तामन्यथा करणाय तद्दिन एव स्वभृत्यान्प्रेष्य स्वसर्वदेशमेलापको मेलितः। अथ राज्ञा सचिवालये सचिवस्वरूपदर्शनार्थं स्वचरः प्रेषितः, कियती भोजनसामग्री जायमानाऽस्तीति विलोकय। तेनाऽपि तत्रागत्य यदामात्यालयस्वरूपं विलोकितं, तदा क्वापि मुष्टिमात्राप्यन्नसामग्री नाऽवलोकिता। पुनः सोऽमात्यस्तु सप्तमभूमौ सामायिकं गृहीत्वा नमस्कारमन्त्रं जपंस्तेन दृष्टः, ततस्तेन चरेण पश्चादागत्य तत्सर्वं स्वरूपं राज्ञे निवेदितं, तदाकर्ण्य भूपश्चिन्तयति स्म—नूनमेष मन्त्री ग्रथिलो भूत्वा दूरं गमिष्यति पश्चान्ममैवैतेभ्योऽखिलेभ्यो भोजनं देयं भविष्यति। अतः किं कर्त्तव्यमिति विचारमूढो जातस्तेन विचार्य कार्यकरणं युक्तमेव।

फिर मंत्री के घर आने के बाद उसके रास्ते की गर्मी के उपशमन के लिए मंत्री की स्त्रीने अमरुद लाने के लिए एक दासी बाजार में भेजी थी वह वही रत्न वाला बीजपूरक (अमरुद) लाकर मंत्री को दे दी। मंत्रीने भी वह खाया और उसके बीच से वह रत्न निकाल लिया। अब उस चार (गुप्तदूत) ने सभी हाल देखकर राजा के आगे सब बात कह दी। यह सुनकर राजाने विचार किया। अरे! पक्का, यह भी धर्म का प्रभाव ही है, ऐसा उसने अपने मन मे रखा। फिर रात में मंत्रीने धर्म से प्राप्त उस कामघट के प्रभाव से सात भूमि वाला सोने का महल बनाया, उसमें लाल मणियों से जड़े हुए सोने के कपिशीर्ष चमक रहे थे। ३२ बत्तीस वाजों से युक्त देव-गान और नाच से युक्त नाटक हुआ। यह देखकर और सुनकर राजा आश्चर्य से चकित होकर विचारने लगा। क्या यह स्वर्ग है? या इन्द्रजाल है? या स्वप्न देखता हूँ? ऐसा विचारता हुआ रात्रि में सोगया। फिर प्रातःकाल में अपने नौकर को पूछा, तब उसने (नौकरने) कहा—हे स्वामी, यह नाटक रात्रि में मंत्रीने कामघट के प्रभाव से किया, और सोने का किला, मणियों के कपिशीर्ष और बत्तीस वाद्य और नाच से युक्त आलीशान महल बनाया। इधर मंत्री सुबह में राजा को धर्म का फल देखाने के लिए बेशकीमती कपड़े पहन कर सोने की थाली भरकर राजा से मिला। राजाने पूछा,—इतने रत्न कहां से लाए? मंत्रीने कहा—धर्म के प्रभाव से। फिर राजाने कहा—रात्रि में सुवर्ण के महल पर बत्तीस वाजों से युक्त तुम्हारा ही नाटक था—मंत्रीने कहा—हां मेरा ही था। तब उसके महल को देखने की इच्छा से राजाने मंत्री को कहा—तुम एक महीना के भीतर थोड़े ही परिवार से युक्त मुझे भोजन कराओ। हे स्वामी, आज ही मैं श्रीमान् (आप) को

इसी बीच में मंत्रीने आकर राजा को विनीत होकर सूचना दी कि —हे स्वामी, शीघ्र पधारें, रसोई ठंढी हो रही है। यह सुनकर राजाने कहा—हे मंत्री, मेरे साथ भी तूने मसकरी करना क्या शुरु कर दिया ? क्योंकि तेरे मकान में थोड़ी भी भोजन सामग्री नहीं है। तब मंत्रीने कहा—स्वामिन्, – एक वार अपने चरणों को ले जाकर (पधार कर) जरा देख लें, सारी सामग्री तैयार है। तब राजा अपने नौकर-चाकर दोस्त-महीम के साथ चला और मार्ग में क्रोध से लाल सुर्ख होकर विचारने लगा—यदि यह (मंत्री) हमको आज भोजन नहीं देगा तो अनेक तरह के छल कपट से इस बात को (शिकायत को) छिपा दूंगा यह विचार उसने कोप के अधीन होकर किया।

तदुक्तं च—

और वह कहा भी है—

सन्तापं तनुते भिनत्ति विनयं सौहार्दमुत्सादय—
त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं ब्रूते विधत्ते कलिम्।
कीर्त्तिं कृन्तति दुर्गतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयं,
दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम्॥ ७९॥

क्रोध पीड़ा को देता है, विनय को नष्ट करता है, मित्रता को भेदन करता है, उद्वेग को उत्पन्न करता है, बुरा वचन बोलता है, झगड़ा करता है, कीर्त्ति को काट डालता है, दुर्गति को देता है, पुण्य को मार भगाता है, और खराब गति (नरकगति) को देता है, इसलिए क्रोध बहुत बुरा है, बुद्धिमानों को इसे छोड़ देना चाहिए॥ ७९॥

कोह पइट्ठिओ देहघरि, तिण्णि विकार करेइ।
आप तपे पर संतपे, धणणी हाणि करेइ॥ ८०॥

(संस्कृत छाया)—

क्रोधः प्रतिष्ठितः देह गृहे त्रीन् विकारान् करोति।
स्वयं तपति परं संतापयति धनस्य हानिं करोति॥

देह रूपी घर में क्रोध के रहने से तीन विकार होते हैं, क्रोध स्वयं तपता है और दूसरों को पीड़ित करता है तथा धन का नुकशान करता है॥ ८०॥

पकड़ कर उचित स्थान में आसन देकर बैठाया। फिर मंत्रीने कामघट के प्रभाव से ऐसी दिव्य पक्की रसोई परोसी कि जिसको राजा आदिक सभी लोग विना श्रम के सुख पूर्वक खाने लगे और प्रशंसा करने लगे।

तद्यथा—

जैसे—

शुभ्रं गोधूम-चूर्णं घृत-गुड-सहितं नालिकेरस्य खंडं,
द्राक्षा-खर्जूर-संठी-तज-मरिच-युतं चैलची-नागपुष्पम् ।
पक्त्वा ताम्रे कटाहे तल-वितल-तटे पावके मंदहीने,
धन्या हेमन्त-काले प्रियजन-सहिता भुञ्जते लापसीं ये ॥ ८२ ॥

स्वच्छ गेहूं के चूर्ण में घी और गुड़ मिलाकर नारियल (गरी) के छोटे छोटे टुकड़े मिलावें, फिर उसमें दाख, छुहोड़ा, सोंठ, तज, कालीमिर्च, इलाइची और नाग केसर डाल कर तांवे की कड़ाह में धीमी धीमी आंच से पकावे और वीच में नीचे ऊपर करता हुआ कड़छू से खूव लारते रहने से अच्छी लापसी तैयार होती है, ऐसी लापसी को हेमन्त ऋतु में अपने प्रिय परिवारों के साथ भाग्यवान ही लोग खाते हैं ॥ ८२ ॥

हिंग्वाजीरैर्मरीचैर्लवणपुटतरैरार्द्रकाद्यैः सुपक्वान्,
स्निग्धान्पक्वान् मनोज्ञान्परिमल-बहुलान्पेशलान्कुङ्कुमाभान् ।
क्षिप्त्वा दन्तान्तराले मुर-मुर-वदतः स्पष्ट-सुस्वाद-युक्तान्,
धन्या हेमन्त-काले मुख-गत-बटकान्भुञ्जते प्रीतिदत्तान् ॥ ८३ ॥

हींग, जीरा, काली मिर्च, सेंधा नमक और अदरख से मिले हुए तेल या घी में अच्छी तरह पके हुए सुन्दर सुगन्ध (केसर-कस्तूरी) युक्त कुंकुम की रंग की तरह अच्छे जायकेदार और दांत के तले दवाने पर जिन में 'मुर मुर' आवाज हो ऐसे प्रेम से दिए गए बड़े (वाड़ा-सेवई आदि) को हेमन्त ऋतु में भाग्यवान् ही भोजन करते हैं ॥ ८३ ॥

गोधूम-चूर्णं लवणेन मिश्रितं, जलेन पिण्डीकृत-हस्तमर्दितम् ।
तद्धोलिका गोमय-वह्निपक्वाः, क्षुधाहराः पुष्टिकरा घृतेन ॥ ८४ ॥

और युवतियों के कोमल पाणि-पल्लव से मथा हुआ शरीर के रोगों को हरने वाले इस तक्र (घोल-छाछ) को पीजिए ॥ ८८ ॥

हिम-शीतल-निर्मल-कुंभ-भृतं, घनसार-सुवासित-वात-युतम् ।
युवती-कर-हेम-कचोल-भृतं, रिपु-पक्ष-हरं पिब भूप ! जलम् ॥ ८९ ॥

हे राजन्, वर्फ के जैसा ठंडा और निर्मल जल से भरे हुए कपूर और खश की खुशबू से युक्त घड़े में से युवती के हाथ से सोने की कटोरी में भर कर लाए हुए इस जल को पीजिए, यह जल आप के दुश्मन के दल को जीतने वाला है ॥ ८९ ॥

इत्यादि मन्त्रिप्रेमवाक्यं शृण्वन् रसवतीं भुंजानः सन् राजा पार्श्वस्थान् पुरुषान् पृच्छति—भो जनाः ! एवंविधा रसवती क्वापि युष्माभिरास्वादिता पक्वान्नानि वा दृष्टानि श्रुतानि वा ? सर्वे जनास्तदैवमाहुर्न क्वापि । एवमतिभक्त्या राजादयस्सर्वे जनास्तेन भोजिताः । तदनु च तेषु केसरचन्दनच्छटा निक्षिप्ताः, तांबूलानि च सर्वेभ्यो दत्तानि दिव्यवस्त्राभरणादीनि च परिधापितानि। तदनु विस्मितेन राज्ञा मन्त्री पृष्टः—भो मन्त्रिन् । एतावन्तो जनास्त्वया कस्य प्रसादेन भोजिताः? मन्त्रिणोक्तम्—महाप्रभावशालिनो देवाधिष्ठितस्य कामघटस्य प्रसादेन । तदा राज्ञोक्तं तं कामघटं ममार्पय, यतः शत्रुसैन्यादिकृतपराभवावसरे स सर्वदा मम महोपयोगी भविष्यति । ततोऽमात्येनोक्तम्—अधर्मवतस्तव गृहे स सर्वथा न स्थास्यति । नृपेणोक्तं सकृत्त्वं मेऽर्पय पश्चादहमतिप्रयत्नेन स्थापयिष्यामि, पुनरहं तस्योपकारं ज्ञास्यामि । सचिवेनोक्तम्—अतःपरं किमहं ब्रवीमि भवदमात्योऽस्मीति ददामि, परं दिनत्रयं तु भवद्भिः सावधानतयाऽवश्यमस्य रक्षा विधेयेति मया स्पष्टं ज्ञापितोऽसि । नातःपरं मे कोऽपि दोष इत्युक्त्वा मन्त्रिणा स कामघटस्तस्मै समर्पितः । नृपेणाप्यतिप्रयत्नेन स्वालयभाण्डागारे स्थापितः, परितश्च तद्रक्षार्थं सारभूता निजसहस्रसुभटाः खड्गखेटकधरा सेना च स्थापिता ।

इत्यादि मंत्री की प्रेमभरी वात को सुनता हुआ और रसोई जीमता हुआ राजा अपने पास में रहे हुए लोगों से पूछा कि हे लोगो, आप लोगों ने ऐसी रसोई कहीं खाई या ऐसी मिठाई कहीं देखी या सुनी ?—तब उस समय सभी ने कहा कि कहीं नहीं। इस तरह भक्तिपूर्वक मंत्रीने राजा आदि सब को भोजन कराया। और उसके वाद उन लोगों को केसर-चन्दन आदि की छांटे देकर पान के वीड़े सबों को दिए और सुन्दर वस्त्र-अलङ्कार आदि पहना दिए। उसके वाद विस्मित होकर राजाने मंत्री से पूछा—हे मंत्री,

अपि च—

और भी—

जानीयात्प्रेषणे भृत्यान्, बांधवान् व्यसनागमे ।
मित्रमापदि काले च, भार्यां च विभव-क्षये ॥ ९२ ॥

किसी कार्य के लिए कहीं भेजने में नौकरों को, कष्ट (दैहिक आर्थिक] में बांधवों को, आपत्ति में मित्रों को और धन के न रहने पर स्त्री को (अच्छा बुरा) जानना चाहिए ॥ ९२ ॥

एवं राज्ञा भृत्याः शिक्षिताः। अथ द्वितीयदिवसे तस्मिन् पुरेऽपि धर्ममाहात्म्यदर्शनार्थं मन्त्रिणा दण्डं प्रत्युक्तम्—भो दंड! कामघटं मे समानयेति, तदैव स दंडस्तत्र गत्वा सर्वान् हयगजसुभटान् कुट्टयित्वा रुधिरवमनांश्च विधाय मूर्च्छाभिभूतान् कृत्वा राज्ञः पश्यत एव तं कामघटं गृहीत्वा मन्त्रिगृहे समागतः। राजा तं घटं गतं दृष्ट्वा विपण्णचेता मन्त्रिगृहे गत्वोवाच भो मन्त्रिन्! पापिनो गृहे सद्वस्तु न तिष्ठतीति तवोक्तं सर्वं सत्यं जातम्। अतः सांप्रतं ममालयेऽयमनर्थः समुत्पन्नः, ततस्त्वं प्रसादं कृत्वा मत्सैन्यं सज्जीकुरु। एवं राज्ञो बह्वाग्रहेण मन्त्री तत्र गत्वा तेषां सुभटानामुपरि प्रभावान्वितं चामर-युगलं वीजयित्वा सर्वानपि सज्जीकृतवान्। ततो मन्त्रिणोक्तं भो राजन्! मद्धर्मप्रभावोऽयं दृष्टः? ततो राज्ञापि मन्त्रिप्रसङ्गाद् धर्मोऽङ्गीकृतः प्रोक्तं च सर्वमपि भव्यं धर्मादेव भवति।

इसतरह सेवकों को राजाने समझा दिया। अब दूसरे दिन उस नगर में मंत्रीने धर्म के माहात्म्य को दिखलाने के लिए दण्ड को बोला—हे दण्ड, मेरा कामघट तू ला दो, उसी समय दण्डने वहां जाकर राजा के हाथी घोड़े और सुभटों को इतनी मार मारी कि उन सबों के मुंह से खून की उलटी होने लगी और सब मूर्च्छित (बेहोश) हो गए ऐसा करके राजा को देखते ही उस कामघट को लेकर मंत्री के घर पर चला आया। राजा उस घड़े को गायब होते देखकर अत्यन्त दुःखी चित्त होकर मंत्री के घर पर जाकर बोला—हे मंत्री, पापी के घर में अच्छी वस्तु नहीं टिकती है, यह तुम्हारा कहा हुआ सब सत्य निकला। इसी से अभी मेरे घर में यह अनर्थ (आफ़त) हुआ है, इस लिए तुम कृपा करके (प्रसन्न होकर) मेरी सेना को अच्छा कर दो, इसतरह राजा के अधिक आग्रह से मंत्री वहां जाकर उन मूर्छित सुभटों के ऊपर प्रभावों से युक्त दोनों चामरों को डुला कर सब को अच्छा कर दिया। तब मंत्रीने कहा—हे राजन्! आपने मेरे धर्म का प्रभाव देखा। राजाने कहा—हां, देख लिया। उसके बाद राजाने भी मंत्री के प्रसंग से धर्म को स्वीकार किया और बोला कि सभी अच्छाई धर्म से ही होती है।

यतः—

क्योंकि—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः, पापे पापाः समे समाः ।
राजानमनुवर्तन्ते, यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ६६ ॥

राजा के धर्मात्मा होने से धर्मात्मा, पापी होने से पापी और समान होने से समान लोग (प्रजा) हो जाते हैं, अर्थात् राजाके पीछे पीछे प्रजा चलती है, कहावत है कि जैसा राजा वैसी प्रजा ॥ ६६ ॥

अथ कियद्दिनानि यावत्तेन राज्ञा तथाविधधर्मप्रभावो मानितः । तदनु पुनरपि चलचित्तेन राज्ञैकदा मन्त्रिणं प्रति प्रोक्तम्— हे मन्त्रिन् ! घुणाक्षरन्यायेन सकृत्तव भाग्यं फलितं परं नायं धर्मप्रभावः । इदं सर्वमपि पापफलमेव, यदि त्वं धर्मप्रभावं सत्यमेव मन्यसे, तर्हि पुनरपि द्वितीयवारं मम धर्मफलं दर्शय । परं कामघटं चामरयुगलं दण्डं चाऽत्रैव मुक्त्वा, निःसंवलः सभार्यस्त्वं देशान्तरे गत्वा, धनमर्जयित्वा, पुनरपि यदि त्वमत्रागमिष्यसि तदाहं तव सत्यधर्म-प्रभावं मंस्ये नाऽन्यथा । एवंविधानि राज्ञो वचनान्याकर्ण्य मन्त्री चिन्तयति स्म—पूर्वमेष राजा महानधर्म्यभूत्पुनरपि तथैव जातः, प्रथमन्तु महापरिश्रमेण परीक्षां विधाय धर्मोऽङ्गीकृतः । अथ पुनस्तदवस्थयैव स्थितो हन्त ! यस्य यथा शुभोऽशुभो वा स्वभावोऽस्ति स तेन कदापि नो मुच्यते ।

उसके बाद कुछ दिनों तक उस राजाने धर्म के प्रभाव को माना, पश्चात् फिर चलचित्त होने के कारण राजाने एक समय मंत्री को बोला—हे मंत्री, घुणाक्षर न्याय से एकबार तुम्हारा भाग्य फला किन्तु यह धर्म का प्रभाव नहीं है। यह सब भी पाप का ही फल है। यदि तुम धर्म के प्रभाव को सत्य ही मानते हो तो एकवार फिर भी धर्म का फल मुझे दिखाओ। लेकिन कामघट को, दोनों चामरों को और दण्ड को यहीं छोड़कर बिना संवल (रास्ते का खर्चा-वर्चा) के अपनी स्त्री के साथ तुम दूसरे देश में जाकर, धन कमाकर यदि फिर भी यहां आयगा तब मैं तुम्हारा सच्चा धर्म का प्रभाव मानूंगा, अन्यथा नहीं। इसतरह राजा की बातें सुनकर मंत्री विचार करने लगा—पहले यह राजा महा पाप-विश्वासी था फिर भी जैसा का तैसा हो गया। पहले तो बहुत परिश्रम से परीक्षा करके इसे किसी तरह धर्म स्वीकार कराया था। अब, फिर उसीतरह हो गया। खेद है, कि,—जिसके जैसे अच्छे या बुरे आदत (स्वभाव) हो जाते हैं, वह उस स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता—आदत से लाचार हो जाता है।

एवं मन्त्रिणा विचारितं, तथापि साहसिकेन परोपकारतत्परेण मन्त्रिणा तद्राज्ञोक्तं द्विवारमपि मानितम् । कुतो जगति विना प्रयोजनं यत्परोपकारंकरणमिदमेव सर्वोत्तमत्वम् ।

इसतरह मंत्रीने विचार तो किया—फिर भी साहसी और परोपकारी होने से राजा का दूसरी बार कहा हुआ भी मान लिया। क्योंकि—विना प्रयोजन के कोई भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती और प्रवृत्तियों में जो प्रवृत्ति परोपकार के रूप में होती है वह सर्व श्रेष्ठ प्रवृत्ति कही जाती है—

उक्तं च—

कहा भी है—

अकृतज्ञा असंख्याताः, संख्याताः कृत-वेदिनः ।
कृतोपकारिणः स्तोकाः, द्वित्राःस्वेनोपकारिणः ॥१००॥

किये हुए उपकार को नहीं जानने वाले बहुत हैं, और किए हुए (उपकार) को जानने वाले गिनती वाले (कम) हैं। उपकार करने वाले वहुत कम हैं और अपने से उपकार करने वाले तो दो ही तीन हैं ॥ १०० ॥

वरं करीरो मरु-मार्ग-वर्त्ती, यः पान्थ-सार्थं कुरुते कृथार्थम् ।
कल्पद्रुमैः किं कनकाचलस्थैः, परोपकार-प्रतिलंभ-दुःस्थैः ॥ १ ॥

मारवाड़ के रेतीले मार्ग में रहा हुआ वह करीर (केरड़ी) का झाड़ अच्छा है जो पथिकों को साधारण (छाया) रूप में भी कृतार्थ करता है, लेकिन सुमेरु पर्वत पर रहे हुए उन कल्पवृक्षों से क्या ? जो परोपकार करने के डर से दूर जाकर ठहरे हुए हैं ॥ १ ॥

छायामन्यस्य कुर्वन्ति. स्वयं तिष्ठन्ति चातपे ।
फलन्ति च परस्यार्थे, नात्महेतोर्महाद्रुमाः ॥ २ ॥

वड़े वृक्षों की छाया दूसरे के लिए होती है और स्वयं उसके ऊपर प्रचण्ड गरमी आपड़ती है, और वे वड़े झाड़ दूसरे के लिए ही फलते भी हैं—अपने लिए नहीं—कभी नहीं ॥ २ ॥

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः, खादन्ति न स्वादु-फलानि वृक्षाः ।
पयोमुचः किं विलसन्ति शस्यं, परोपकाराय सतां विभूतयः ॥ ३ ॥

यतः—

क्योंकि—

वयोवृद्धास्तपोवृद्धाः, ये च वृद्धा बहु-श्रुताः ।
सर्वे ते धन-वृद्धानां, द्वारे तिष्ठन्ति किंकराः ॥ ५ ॥

जो उमर में बूढ़े हैं, तपस्या में बूढ़े हैं और शास्त्रज्ञ में बूढ़े हैं वे सब धन में बूढ़े (महाधनी) लोगों के द्वार पर किंकर होकर रहते हैं ॥ ५ ॥

अपि च—

और भी—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥ ६ ॥

जिसके पास धन है, वही आदमी कुलीन (खानदानी) है। वही (धन वाला ही) पण्डित है, वही शास्त्रवेत्ता है, वही गुणी है, वही वक्ता है और वही दर्शन करने योग्य है, क्योंकि सारे गुण काञ्चन (धन-दौलत) के ही सहारा लेते हैं ॥ ६ ॥

इतो मन्त्रिणा सर्वलोकेभ्यो द्रव्यादानानन्तरं वाहने समारूढः सागरदत्तो व्यवहारी दृष्टः । तेन सोऽपि दानाय जलमध्ये कियद् दूरं गत्वा वाहने समारुह्य तस्य श्रेष्ठिनः पार्श्वे दानं याचितवान् । व्यवहारिणापि तद्धर्मप्रभावेण तस्मै यथेष्टं दानं दत्तं, मन्त्रिणापि शीघ्रमेव गृहीतम् ।

इधर मंत्रीने सब लोगों को द्रव्य दान देने के बाद सवारी पर चढ़ा हुआ सागरदत्त नाम के व्यापारी को देखा। इससे वह मंत्री दान के लिए जल के बीच में कुछ दूर जाकर सवारी पर चढ़ कर उस सेठ के पास दान मांगा। उस व्यापारी सेठने भी उसके धर्म के प्रभाव से उसको पूरा दान दिया, मंत्रीने भी शीघ्र ले लिया—

बावत्तरिकलाकुसला, पंडियपुरिसा अपंडिया चेव ।
सव्वकलाणं पवरा, जे धम्मकलं न जाणंति ॥ ८ ॥

(संस्कृत छाया—)

द्वासप्तति-कला कुशलाः पण्डित-पुरुषा अपण्डिताश्चैव ।
सर्व-कलानां प्रवराः ये धर्मकलां न जानन्ति ॥ ८ ॥

बहत्तर कलाओं में चतुर, सब कलाओं में प्रवीण पण्डित पुरुष भी यदि धर्मकला को नहीं जानते हैं तो वे अपण्डित (मूर्ख) ही हैं ॥ ८ ॥

अपि च—

और भी—

सीखेहो अलेख लेख कविता गीतनाद- छन्द,
ज्योतिषके सीखे रहते मगरूरमें ।
सीखेहो सौदागिरी सराफी बजाजी लाख,
रुपियनके फेरफार बहेजात पूरमें ॥
सीखेहो जंत्र मंत्र तंत्र बातां भातां बहु ज,
जगत कहत जाको हाजर हजूर ! में ।
कहे मुणि 'राजेन्द्रसूरि' जिननाम बोलवो,
नहीं सीख्यो ताको सब सीख्यो गयो धूरमें ॥ ९ ॥

एवं धर्मसम्बन्धीनि वचनान्यकर्ण्य महाहर्षेण व्यवहारिणोक्तम्—तर्हि त्वं मम व्यापारसम्बंधि लेखादिकर्म कुरु, तेनापि तदंगीकृतं, ततो व्यवहारिणाऽपि स लेखादिकार्ये स्थापितः । एवं स तत्र सुखेन कालं गमयति स्म ।

इसतरह धर्म की बातें सुनकर खुश होकर व्यापारीने कहा—तो तुम मेरा व्यापार संबन्धी लिखने आदि का काम करो—मंत्रीने भी मंजूर कर लिया । फिर सेठने भी मंत्री को लिखने आदि के कार्य में नियुक्त कर दिया, इसतरह वह मंत्री सुख से समय विताने लगा ।

पुनर्विलापपूर्वकं रोरूयते स्म । हन्त ! पूर्वस्मिन् भवे मया महान्ति कोटिशः कल्मषाण्युपार्जितानि येन मद्विल्लभो मामेवं पथ्येव विहाय गतः । अथाहं निर्नाथा क गच्छानि ? अस्मिन् क्षणे परम-स्नेहवन्तो गोवत्सा अपि स्तन्यपानं विधातुं स्वमातरं प्राप्ताः । प्रतिगृहं प्रज्वलच्छिखा दीप-मालिकाश्च प्रज्वलिताः । रात्रिंचराश्चोन्मत्ताः सन्तो नर्त्तितुं लग्नाः । विरहिजनविरहार्त्तिवर्द्धन-श्चन्द्रोऽप्युदियाय । पुनस्तेन विरहिण्योऽतीव दुःखिताः समजायन्त । अथाहमनाथा किं कुर्यां चक्रवाकीव गाढतरदुःखधारिण्यहमभूवम् । एवमनेकधा विलप्य सा तत्रैव वाटिकायां भर्तृगमनजं दुःखं सस्मार । अपि चाहो ! क मे पितरौ क चाहं ?, मया यत्र यत्र दृग्विन्यस्यते तत्र सर्वत्र पत्यभाव एव विलोक्यते । हा प्राणनाथ ? प्रतिक्षणं ते मुखाब्जाकृतिस्मरणं कुर्वत्या मेऽक्षिणी जीमूतो जलधारामिवाश्रुधारां मुंचतः । हे पतिदेव ! त्वां विना कोऽरण्यसमानायामस्यां वाटिकायां मह्यं सायं स्थानं दास्यति । अन्यच्च कथमहं स्वशीलव्रतं रक्षयिष्यामि ? किं बहु निगदामि किमनुतिष्ठामि ? हे पतिदेव ! त्वदभावेऽहं सर्वतो दिङ्मूढा निश्शोभा गतविचारा च जाताऽस्मि । सैवंविधं नानाविलापजं परिदेवनं चिरं विधायोत्थाय च दृशावितस्ततः परिभ्रम्यावलोकयति स्म । ततः कुत्रापि स्वाम्यभिज्ञानमलभमानातीवोदासीना सती तत उदस्थात् । निजेशं विलोकयन्ती वाटिकोपकण्ठे कुलालमेकमद्राक्षीत् । अथ तत्समीपं गत्वेयं सुबाला मृद्व्या सम्बन्धसूचिकया दीनया गिरा तमगादीत्—हे बान्धव ! यदि त्वं मां स्वसारमिवांगीकुर्यास्तह्यहमन्यदेशनिवासिनी स्वदुःखपूर्णां विज्ञप्तिं श्रावयेयम् ।

फिर, रे मन, उस पति के विरह में चैन से रहे हुए तुम मुझे क्यों लजाते हो ? इससे तो अच्छा होता कि बाघिन आकर मुझे खालेती, यही बेजोड़ दवा मेरी इलाज के लिए हो । इसतरह अनेक प्रकार से बार बार अपने कर्म के दोषों को निकाल (कह) कर उस समय अकेली ही वह बेचारी अपनी बेसमझी से पहले (पूर्व जन्म में) किए हुए कर्मों की निन्दा की । फिर बोल बोल कर खूब रोने लगी—हाय, पूर्व जन्म में मैंने करोड़ों बड़े पाप किए हैं, जिससे मेरे पति मुझे इसीतरह रास्ता में ही छोड़कर चले गए अब मैं पति के बिना कहां जाऊं ? इस समय पूरे प्रेम वाले गायों के बछड़े भी दूध पीने के लिए अपनी मां के पास गए । हर एक मकान में दीपों की कतारें जलने लगीं । रात्रिचर (रात में चलने वाले राक्षस आदि) पागल होकर नाचने लगे । वियोगिनियों के विरह-पीड़ा को बढ़ाने वाला चन्द्रमा भी उग गया और उस (चन्द्रोदय) से विरहिणी स्त्रियां अधिक दुःखित होने लगीं । अब, मैं अनाथा (पति के बिना) क्या करूँ ? चक्रवाकी (चकली) की तरह मैं बहुत दुःख की भारवाली हो गई हूं । इसतरह

तेन तस्याः पुण्यशीलमाहात्म्येन स्वभगिनीत्वेनांगीकृत्य सम्यक् प्रकारेणाऽऽश्वास्य च स्वगृह एव सा रक्षिता। ततः शीलशृङ्गारशोभिता सा तत्र कुलाल-सद्मनि सतीत्वपवित्रगुणगणवती शील-व्रतरक्षाहेतोः सुनियमान् धारयामास। तानाह— भर्तुर्मिलनावधि मया भूमौ शयनीयं, शोभार्थं स्नानं न करणीयं, सुन्दरवस्त्राणि त्याज्यानि, पुष्पांगरागविलेपनं त्याज्यं, ताम्बूललवंगैलाजाति-फलादीनि नास्वाद्यानि वै, शरीरमलमपि विभूषार्थं नापनेयं, सर्वहरितशाकानि त्याज्यानि, पुन-र्दधिदुग्धपक्वान्नगुडखंडशर्करापायसप्रभृति सरससमाहारं न भोक्ष्ये, किन्तु नीरस एवाहारो मया ग्राह्यः, सदैकभुक्तमेव कार्यं, महत्कार्यं विना गृहाद् वहिर्न निर्गन्तव्यं, गवाक्षेषु न स्थातव्यं, लोकानां विवाहाद्यपि न वीक्षणीयं, सखीभिः सहापि नर्मालापपुरुषस्त्री-शृङ्गारहास्यविलासनेपथ्यादिका विकथा नैव कार्या, वैराग्यकथैव परिकथनीया परिवर्त्तनीया च। कर्मकरादिभिः सहाप्यालाप-संलापादिकं विशेषतो न कार्यं, तर्हि अन्यपुरुषैः सह तु दूरे एव, किं बहुना चित्रस्था अपि पुरुषा नावलोकनीयाः।

इसतरह दुःखों से भरी विनयसुन्दरी की वातों को सुनकर दया से पिघला हुआ चित्त वाला परोपकारी उस कुंभारने उसके पुण्य-शील के प्रभाव से अपनी बहन की तरह मान कर और अच्छी तरह तोष-भरोस देकर अपने घर में ही उसे रखा। उसके वाद शील रूपी आभूषणों से शोभती हुई वह उस कुंभार के घर में सती-धर्म के पवित्र गुणों को धारण करने वाली अपना शीलव्रत की रक्षा के लिए अच्छे नियमों को धारण करने लगी। उसके नियमों को वतलाते हैं—पति के मिलने तक मैं भूमि पर ही सोऊंगी, शोभा के (शृङ्गार के) लिए स्नान नहीं करूंगी, लहरदार कपड़े नहीं पहनूंगी, फूलों और चन्दन-केसर कस्तूरी आदि को अंग में नहीं लगाऊंगी, पान, लौंग, इलायची और जायफल आदि नहीं खाउंगी, शरीर के मैल भी शोभा वढ़ाने के लिए नहीं हटाऊंगी, सभी हरे ताजे शाक छोड़ दूंगी और दही, दूध, मिठाई-पूड़ी, गुड़, मिसरी, चीनी और खीर आदि नहीं खाऊंगी, वल्कि विना रस का ही भोजन करूंगी, हमेशा एक ही समय भोजन करूंगी, वहुत जरूरी काम के विना घर से वाहर नहीं निकलूंगी। झरोखों पर नहीं वैठूंगी। लोगों के विवाह आदि भी नहीं देखूंगी, सखी-सहेलियों के साथ भी हंसी-दिल्लगी की वात, पुरुष-स्त्री के शृङ्गार, हंसी-मजाक, विलास और नेपथ्य की वुरी (कामजगाने वाली) वातें नहीं करूंगी। वैराग्य की कथा ही अच्छी तरह कहूंगी और वैराग्य पालूंगी। नौकर चाकर से भी विशेष हव-गव नहीं करूंगी फिर दूसरे पुरुषों की वात तो दूर रही। अधिक क्या? चित्र में रहे हुए पुरुषों को भी नहीं देखूंगी।

यतः—

क्योंकि—

संकेतः सकलापदां शिवपुर-द्वारे कपाटो दृढः,
शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्य-चिन्तामणिः ॥ १२ ॥

जिसने तीनों लोक में चिन्तामणि समान अपना शील खो दिया उसने संसार में अपयश के ढ़िढ़ोरे पिटवा दिए, अपने वंश में कालिमा लगाई, चरित्र धर्म की जलांजलि दे दी, गुणों के समुदाय रूपी उद्यान में आग लगा दी, सारे विपत्तियों को (अपने पास आने के लिए) इशारा कर दिया और मोक्ष रूपी नगर के दरवाजे पर मजबूत किवाड़ लगा दिया अर्थात् अपना सर्वस्व खो चुका ॥ १२ ॥

पुनस्तेन कुशीलेनापध्यानमर्त्तिं विपत्तिं च परस्त्रीलम्पटा जना दिने दिने लभन्ते, तांश्च परदारवेश्यादिभोगिनो निन्दितनरास्तथा ये दुर्जनाः पिशुनाः छलान्वेषिणश्च ते प्रतिपदं निगृह्णन्ति। राजादिलोका दण्डयन्ति स्वजनादयश्चापि निभर्त्सयन्ति ।

और उस खराव आचरण से पर स्त्री में लम्पट लोग खराब ध्यान, विपत्ति और शारीरिक दुःख दिन दिन पाते हैं और उन परस्त्रीगामी तथा वेश्यागामी जनों को क्षुद्र व्यक्ति तथा दुर्जन, चुगल खोर और दोष ढूढ़ने वाले वात वात में दण्ड करते हैं ।

यतः—

क्योंकि —

कलिः कलंकः परलोकदुःखं, यशश्च्युतिर्धर्म-धनस्य हानिः ।
हास्यास्पदत्वं स्वजनैर्विरोधो, भवन्ति दुःखानि कुशीलभाजाम् ॥ १३ ॥

झगड़ा, वदनामी, परलोक में दुःख अपयश, धन और धर्म की हानि, लोगों में हँसी, अपने भाइयों से वैर-विरोध, ये दुःख कुशील वालों (वद चलन-परस्त्री गामी, वेश्यागामी) को होते हैं ॥ १३॥

अथ स श्रेष्ठी विषयमोहितस्तस्यै गणिकायै प्रसादभूतं मुद्रालक्षं ददौ । स च यानि २ कार्याणि गणिका समाज्ञापयति स्म तानि सर्वाणि तत्क्षणमेवातिहर्षेण विदधे । कुललज्जामर्यादादीनगणयित्वा यथा मद्यपाः परवशदेहा भवन्ति तथा सोऽपि विषयमदान्धो बभूव ।

इसके वाद उस सेठने विषय में मोहित होकर उस वेश्या को खुश होकर लाख रुपये दिये । और जिस जिस कार्य को वेश्या हुक्म देती थी सेठजी उन कामों को फौरन (उसी समय) ही बड़े आनन्द से

मदिराया गुणज्येष्ठा, लोक-द्वय-विरोधिनी ।
कुरुते दृष्टमात्रापि, महिला ग्रथिलं जनम् ॥ १६ ॥

शराब से गुण में बड़ी (शराब की बड़ी बहिन) कामिनी दोनों लोक में विरोध कराने वाली है, क्योंकि, मदमाती सुन्दरी देखने मात्र से ही लोगों को प्रायः पागल बना देती है ॥ १६ ॥

कहा भी है—

"जे मुनि ज्ञान निधान, मृगनैनी विधु-मुख निरखि ।
विकल होत हरियान, नारि विश्व-माया प्रगट" ॥

अपि च—

और भी—

तावद्धीरोऽतिवीरः सम-रस-रभसावेग-गाहे-गभीर—
स्तावद्धर्मे दृढोऽसौ श्रुति-मुख-गदिते पंडितोऽप्यत्र तावत् ।
तावल्लज्जा सपर्या मनन-निपुणता योग-वासिष्ठ-निष्ठा,
यावत्सस्मेर-नारी-नयन-तट-गतापांगभल्ली न लग्ना ॥ १७ ॥

मानव तबतक संग्राम में हर्ष के साथ तेजी से धीर और वीर (बहादुर) रहता है, धर्म में तबतक पक्का और गहरा विचार वाला रहता है और शास्त्रों में कहे गए बातों में पण्डित भी तभीतक रहता है, तभीतक लाज, पूजा पाठ, ज्ञान-ध्यान में कुशल रहता है तथा योग-वासिष्ठ (योग शास्त्र) में निष्ठा (आस्था) वाला रहता है, जबतक मुस्कराती हुई मदमाती सुन्दरियों के चंचल आखों के कटाक्ष रूपी भाले (चंचल चितवन-तिरछी नजरें) उसको नहीं लगते ॥ १७ ॥

कहा भी है—

"बुधि-बल-शील-सत्य सब मीना
बंशी सम तिय कहहिं प्रवीना"

एवं स श्रेष्ठी विषयासक्तत्वाद्बहु धनव्ययं कुर्वन् वारांगनागृहे तिष्ठति स्म । अथैकदा सा वारांगना मनस्येवं विचिन्तयामास—यद्यस्य वणिजो मुनीमाख्यो यो धर्मबुद्धिनामा सर्वव्यापारं-

शिरोवेण्यां ग्रीवायां पंचवर्णपुष्पमालाधरा च साक्षात्कल्पलतेव शोभमाना घनकुचकुम्भभारैरानम्री-भूतहृदया चलन्ती प्रतिपदं स्नेहं प्रकाशयन्ती गंभीरनाभिका कृशोदरी नूपुरं रणत्काररवं वादयन्ती पिकीव प्रियभाषिणी जितेन्द्रियाणामनेकसाहसिकानाञ्चापि सत्त्वभंजिका, एवंप्रकारा सा गणिका भूत्वा मन्त्रिणोऽग्रे समाजगाम। चागत्य वेणीकचानुत्कचयन्ती मुखेनोच्छ्वसन्ती आलस्यभरेणांगं मोटयन्ती कंचुकीबन्धनं च शिथिलीकुर्वती अनेकहावभावविभ्रमादिविलासान् कुर्वाणा स्ववशा-नयनाय स्वात्मानं मन्त्रिणं दर्शयामास।

इन सोलह सुन्दर शृङ्गारों से अपने देह को साक्षात् स्वर्ग की अप्सरा की तरह बनाकर छल-कपट रूपी नाट्य में पण्डिता वह वेश्या—अपनी कमर से सिंह को, चोटी से शेष नाग को, मुख से चन्द्रमा को, चाल से हाथी को, आखों से हरिणी को और अपने मनोहर रूप से रति को भी पराजय करती हुई, चारों ओर चंचल तिरछी नजर रूप बाणों को फेकती हुई, भौंरों के समान अलका (माथे पर बालों की लटें) को धारण करने वाली, धनुष के समान भौंह वाली कामुक जनों के प्राणों को कामबाण से बींधती हुई, सुवर्ण की रेखा से शोभित दांतों वाली टेढ़ा मुंह करके अंगुलियों में पेन्ही हुई अंगूठी को बार बार निहारती हुई, मस्तक की वेणी (चोटी) और गले में पांच वर्णों के पुष्पों की माला को धारण करने वाली साक्षात् कल्पलता की तरह शोभती हुई, घड़े के समान विशाल स्तनों की भार से झुके हुए हृदय वाली, चलती हुई पग पग में प्रेम को प्रगट करती हुई, गहरी नाभि वाली, पतली कमर वाली, नूपुर (पायल) को रन-रनाती (झन-झनाती) हुई कोयल की तरह मीठे स्वर वाली जितेन्द्रियों और साहसियों के भी परांक्रम को चकनाचूर कर देने वाली, इसतरह का रूप धारण कर वह वेश्या मंत्री के सामने आगई और आकर चोटी को खोलती हुई, मुख से हांफती हुई आलस के भार से अंगों को मरोड़ती हुई, नमस्तीन (जाकिट) की गांठ (बटन) को ढीली करती हुई, अनेक तरह के हाव, भाव, विभ्रम और विलास को करती हुई अपना वश में लाने के लिए अपनी आतमा (अपना स्वरूप) को मंत्री को दिखलाने लगी।

तथाहि—

जैसे :—

हावो मुख-विकारः स्याद्, भावश्चित्त-समुद्भवः।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो, विभ्रमो भ्रू-समुद्भवः ॥ १६ ॥

मुख के विकार-चेष्टा "हाव" कहे जाते हैं, चित्त (हृदय, मन) के विकार "भाव" कहे जाते हैं, नेत्र के विकार "विलास" कहे जाते हैं और भौंह के विकार (चेष्टा) "विभ्रम" कहे जाते हैं ॥ १६ ॥

यच्छन्तीषु मनोहरं निज-वपुर्लक्ष्मी-लव-श्रद्धया,
पण्यस्त्रीषु विवेक-कल्प-लतिका-शस्त्रीषु को रज्यते ? ॥ २२ ॥

जो वेश्याएँ थोड़ी सी लक्ष्मी (पैसे) के लिए जन्म के अंधे (पुरुष) को, कुरूप को, बुढ़ापे से शिथिल (ढीले) अंग वालों को, गमारों को, नीचों (दलित वर्गों) को और गलित कुष्ठ वालों को अपने सुन्दर शरीर को न्यौछावर करती हैं, उन विवेक रूपी कलपलता के काटने वाली हँसुआ समान वेश्याओं में कौन (विचारशील) राग (प्रेम) करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥ २२ ॥

अथ मे सम्मुखमपि मा पश्य, कथं मद्गृहे विनादेशं समागता ? पुनर्हेगणिके ! मद्वाक्यं शृणु—यदि त्वं केवलस्वर्णमयी भवेस्तथाऽप्यहं त्वां नाभिलषामि, नानुरक्तो भवामि, नास्ति साप्तधातुकेऽस्मिन् ते देहे मे भोगरुचिः, एषा तनुर्दुर्गन्धपूर्णा चर्ममण्डिता सद्बुधैर्निन्दिता दशभिः छिद्रैरहर्निशं मलवाहिनी सर्वतोऽशुच्यागारभूता। एवंभूतां तनुं पुरीषाभिलाषुका एवांगीकुर्युर्नान्ये। अतोऽहं ते विग्रहं मनसापि नाभिलष्यामि, तर्हि कायेन किम् ? पुनर्या स्त्री मद्यपा इवोन्मत्ताऽस्मिन् लोकेऽकार्यकर्त्री विलोक्यते सा दर्शनमात्रेणैव सर्वमैहिकं पारत्रिकं च पुण्यं विनाशयति। यत्स्वभाषितं तदपि न सत्यापयतीति सा कथं विश्वासार्हा ? अनेनैव कारणेन महानर्थमूला स्त्रीतनुरिति ज्ञात्वा ज्ञानिनो लोकाः परदारसंगं त्यजन्ति। कुतो विषयाब्धिनिमग्नैः सद्भिरेकवारमपि यत्परदारगमनं विधीयते, तर्हि तैरेकविंशतिवारं सप्तमनरकदुःखमनुभूयत एव।

अब, मेरे सामने भी मत देखो, विना आज्ञा के मेरे घर में क्यों आगई ? फिर हे वारांगने, मेरी बात सुनो—यदि तुम निखालिश सोने की हो जाओ, फिर भी मैं तुम्हें नहीं चाहूंगा और न प्रेम करूंगा, सात धातुओं से बने हुए तुम्हारे इस देह में मेरी भोग की इच्छा नहीं है। यह शरीर दुर्गन्धमय है, चाम से ढ़का हुआ है, ज्ञानियों ने इसकी निन्दा की है। दश छिद्रों से निरन्तर मल निकलते रहते हैं, सब तरह से यह अपवित्र का भण्डार है। इसतरह के अपवित्र शरीर में पुरीष (पाखाना-टट्टी) की चाहना करने वाले ही अनुराग करते हैं, दूसरे नहीं। इसलिए मैं तुम्हारे शरीर को मन से भी इच्छा नहीं करता हूं, फिर शरीर से क्या ? फिर जो स्त्री शराबी की तरह मतवाली होकर कुकर्म करती हुई दीखती है वह देखने मात्र से ही इस लोक के और परलोक के सारे पुण्य को विनाश कर डालती है। जो अपने आप कहती है उसे भी सत्य करके नहीं दिखलाती वह (वेश्या) कैसे विश्वास के योग्य हो सकती है ? इसी कारण से "भारी खतरे की जड़ कामिनी का शरीर है" यह जानकर ज्ञानी लोग दूसरी स्त्री के संग (सहावास) को छोड़ देते हैं। क्योंकि, विषय रूपी समुद्र में डूबे हुए सज्जनों द्वारा एकबार भी जो पराई

पुनरपि तद्दोषेणात्र लोक एव तैः क्लीवत्वं कुरोगित्वमिन्द्रियहीनत्वं च लभ्यते। तेषां नामापि न कोऽपि गृह्णाति, एवं ते दुःशीलिनो निंद्याः दौर्भाग्यशालिनश्च जायन्ते। अतएव हे वारांगने! न कदाऽप्यहं त्वय्यनुरक्तो भविष्यामि। एवंविधं मन्त्रिवाक्यचातुर्यमाकर्ण्य तयाऽन्ते ज्ञातम्—मम कलाकौशलमस्य शीलभ्रष्टकरणे न प्रभवति। इति विमृश्य ततोऽपसृत्य च यथाऽऽगता तथैव सा स्वस्थानं त्वरितं परावर्तिष्ट। एवं परिवर्जितकुसंगस्य तस्य मन्त्रिणस्तस्मिन् सकलेऽपि नगरे शीलमहिमसुप्रसिद्धिर्जाता।

फिर भी उस परस्त्री के साथ व्यभिचार के पाप से इसी लोक में ही वे व्यभिचारी नपुंसक हो जाते हैं, खराब रोगों से ग्रसित होते हैं और उनकी इन्द्रियां भी नष्ट-भ्रष्ट (निकम्मी) हो जाती हैं। व्यभिचारियों का नाम भी कोई नहीं लेता, इसतरह वे कुकर्मी, निंदाके योग्य और बदनसीब (अभागे) हो जाते हैं। इसलिए, हे बाजार की जोरू! मैं कभी भी तुम में अनुराग वाला नहीं हो सकूंगा। इसतरह मंत्री की वाक्-चतुरता को सुनकर उस वेश्याने अन्त में समझा कि—मेरी कलाकुशलता इसके शील (ब्रह्मचर्य) भ्रष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकती है। ऐसा विचार कर और वहां से निकल कर जैसे आई थी उसी तरह वह अपने घर को शीघ्र लौट गई। इसतरह बुरे संग को छोड़ देने वाले उस मंत्री के उस सारे नगर में शील (सदाचार-ब्रह्मचर्य) की महिमा की प्रसिद्धि हो गई।

यदुक्तं च—

कहा है—

सीलं उत्तम-वित्तं, सीलं जीवाण मंगलं परमं।
सीलं दोहग्ग-हरं, सीलं सुक्खाण कुलभवणं॥ २५॥

शीलं उत्तम-वित्तं शीलं जीवानां परमं मंगलम्।
शीलं दुर्गतिहरं शीलं सुखानां कुल-भवनम्॥ २५॥

शील उत्तम धन है, शील प्राणियों का परम मंगल है, शील दुःख नाशक है, शील सुखों का खजाना है॥ २५॥

सुविसुद्ध-सील-जुत्तो, पावइ कित्तिं जसं च इहलोए।
सव्व-जण-वल्लहो च्चिय, सुह-गइ-भागी अ परलोए॥ २६॥

पटहः स्पृष्टः। ततोऽमात्येन नृपसभायां गत्वा तानि ताम्रपत्राणि वाचितानि यथा—यत्रैतानि पत्राणि निःसृतानि, ततः पूर्वस्यां दिशि दशहस्तमितं गत्वा कटिप्रमाणं पृथिवीखनने सति तत्रैका महती शिला समेष्यति, तस्या अधश्च दीनाराणां दशलक्षाणि सन्ति, तन्निशम्य सर्वेषां चमत्कारोऽभूत्। कौतुकालोकोत्कण्ठितमानसेन राज्ञोक्तं तर्हि संप्रत्येव तत्र गत्वा विलोक्यते, ततः सर्वजनपरिवृतो राजा तत्र गतः। ताम्रपत्रोक्तविधिश्च तेन कारितः, दशलक्षाणि सुवर्णानां निःसृतानिः, सर्वेषां महान् हर्षो जातो, राज्ञापि मन्त्रिणः प्रशंसा कृता, यदहो ! कीदृशं ज्ञानस्य माहात्म्यमिति।

वाद में एक समय राजा ने उस नगर में तालाब खुदवाना शुरु किया, फिर कुछ दिनों में वहां ताम्र पत्र का लेख निकला। मजदूरों ने राजा को वह लेख दे दिया। राजाने भी उस लेख (ताम्र पत्र लिपि) को पढ़ने के लिए पण्डितों को दिया। किन्तु उस ताम्र पत्र में दूसरी लिपि (अक्षर) के होने से कोई भी उसे नहीं पढ़ सका। तव कौतुक प्रिय (उस लेख से दिलचस्पी लेने वाला) राजाने ढ़िढ़ोरा पिटवाया—कि—जो कोई भी इन अक्षरों को पढ़ लेगा, उस व्यक्ति को राजा अपनी लड़की और अपना आधा राज्य देगा, इसतरह वजता हुआ ढोल (ढ़िढ़ोरा) मंत्री के घर के पास आया तब मंत्रीने उस ढोल को स्पर्श कर दिया। फिर मंत्रीने राजा की सभा में जाकर उन ताम्र पत्र के अक्षरों को पढ़ा, जैसे—"जहां ये ताम्र-पत्र निकले हैं उस से दश हाथ पूरव कमर के वरावर भूमि को खोदने पर वहां एक वड़ी शिला मिलेगी और उस शिला के नीचे दश लाख सोना-मोहर हैं" यह सुनकर सब के सब आश्चर्य युक्त हुए। इस आश्चर्य को देखने के लिए उत्कण्ठित मन वाला राजाने कहा—तो अभी वहां चलकर देखा जाय, फिर सभी लोगों के साथ राजा वहां गया। और ताम्र पत्र में कही हुई विधि (क्रिया खोदना) भी करवाई। दश लाख सुवर्ण के मोहर निकले, सबों को वड़ा हर्ष हुआ। राजाने भी मंत्री की प्रशंसा की कि—अरे, ज्ञान का माहात्म्य कैसा है॥

यदुक्तं—

कहा भी है—

विद्वत्त्वञ्च नृपत्वं च, नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥ २६॥

पण्डिताई और राजापन कभी भी समान नहीं है, क्योंकि, राजा अपना देश में ही पूजा जाता है और विद्वान् सभी जगह पूजे जाते हैं अर्थात् राजा से पण्डित का पलड़ा भारी है॥ २६॥

विद्या को कोई चुरा नहीं सकता और सभी तरह विद्या कोई भी कल्याण करती है, विद्या (रूपी धन) याचकों (छात्रों) को देने से प्रति दिन बढ़ती ही है, कल्पान्त (सर्व नष्ट) में भी विद्या नष्ट नहीं होती, विद्या अन्दर का धन है, अतः हे लोगो, जिन के पास विद्या है उनसे मान को त्याग दो, क्योंकि उनके साथ कौन स्पर्धा - (चढ़ा उतरी-प्रतियोगिता) कर सकता है ॥ ३३ ॥

किञ्च—

और भी—

पण्डितेषु गुणाः सर्वे, मूर्खे दोषास्तु केवलाः ।
तस्मान्मूर्खसहस्रेषु, प्राज्ञो एको विशिष्यते ॥ ३४ ॥

पण्डितों में प्रायः सभी गुण रहते हैं और मूर्खों में केवल अवगुण रहते हैं, इसलिए हजारों मूर्खों से एक पण्डित अच्छा है ॥ ३४ ॥

अथ तत्कौशल्यचमत्कृतेन राज्ञा तस्मै मन्त्रिणे सौभाग्यसुन्दर्यभिधानं स्वकन्यारत्नं निजं चाऽर्द्धराज्यं दत्तम् । तथैवानेकहयगजरत्नमणिमाणिक्यस्वर्णादिभृतानि द्वात्रिंशत्प्रवहणान्यर्पितानि । कुत एतानि वस्तूनि यत्र गच्छन्ति तत्र शोभामेव प्राप्नुवन्ति ।

अनन्तर उसकी चतुरता से आश्चर्य से आनन्दित होकर राजाने उस मंत्री को अपनी सौभाग्य सुन्दरी नाम की कन्या और आधा राज्य दे दिया, उसी तरह अनेक घोड़े-हाथी, सोने-जवाहिरात से भरे बत्तीस जहाज दिए। क्योंकि, ए चीजें जहां जाती हैं वहां शोभा कोही प्राप्त होती हैं—

यतः—

क्योंकि—

पूगीफलानि पत्राणि, राजहंसास्तुरंगमाः ।
स्थानभ्रष्टाः सुशोभन्ते, सिंहाः सत्पुरुषा गजाः ॥ ३५ ॥

सुपारी, पत्ते, राजहंस, घोड़े, सिंह, सत्पुरुष और हाथी ये दूसरी जगह अधिक शोभा पाते हैं ॥ ३५ ॥

अथैवंविधां तस्य समृद्धिं दृष्ट्वा स सागरदत्तश्रेष्ठी निजहृदि प्रज्वलितुं लग्नः । ततः स श्रेष्ठी निजशेषक्रयाणकानि विक्रीय तत्रस्थैर्नानाविधैरपरैः क्रयाणकैः प्रवहणान्यापूर्य पश्चान्मनसि

यदुक्तं—

कहा भी है—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-नासणो ।
माया मित्तिं पणासेइ, लोहो सव्व-विणासणो ॥ ३६ ॥

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति मानो विनय-नाशनः ।
माया मैत्रीं प्रणाशयति लोभः सर्व-विनाशनः ॥ ३६ ॥

क्रोध (गुस्सा) प्रेम को विनाश कर देता है, मान विनय को नाश कर देता है, माया (कपट-छल) मित्रता को विनाश कर देती है और लोभ सभी कुछ नाश कर डालता है ॥ ३६ ॥

अपि च—

और भी—

यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनु-क्लेशां कृषिं कुर्वते ।
सेवन्ते कृपणं पतिं गज-घटा-संघट्ट-दुःसंचरं
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभ-विस्फूर्जितम् ॥ ३७ ॥

धन के पीछे अंधे होकर जो (लोग) दुर्गम जंगल में भटकते हैं, भयंकर दूर विदेश में जाते हैं, गहरे समुद्र में गोते लगाते हैं, बड़ी कड़ी मेहनत से खेती करते हैं, कंजूस स्वामी की सेवा करते हैं और हाथियों के झुंडों की जमघट (भीड़) से नहीं चलने लायक जो युद्ध स्थान, उस में भी जो दौड़ते हैं, वह सब लोभ का ही माहात्म्य है ॥ ३७ ॥

पुनरेतादृशैः कुत्सितनरैरचलाप्यशुद्धा भवति तद्वृत्तं दृष्टान्तेन दर्शयति ।

और ऐसे बदनीयत लोगों से धरती भी नापाक हो जाती है, यह बात दृष्टान्त के द्वारा दिखलाते हैं—

यथा—

जैसे—

देना और लेना, रहस्य बात कहना और पूछना, एवं खाना और खिलाना यह छः प्रकार का प्रेम का लक्षण है ॥ ४१ ॥

तथा चः—

और इसी तरह—

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः,
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः ।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ॥ ४२ ॥

दूध और पानी की मैत्री दिखलाते है :—

पहले दूधने अपने में रहे जल (मित्र) के लिए अपना सब गुण दे डाला, फिर दूध में ताप (उफान-जलन) देख कर उस (मित्र) जलने अपनी आत्मा को अग्नि में हवन कर दिया। फिर अपने मित्र (जल) के संकट (अग्नि में हवन होते) को देखकर, दूध व्याकुल होकर अग्नि में जाने के लिए तैयार हो गया, फिर उस (मित्र) जल से मिलकर दूध शान्त हो गया—नीतिकार कहते हैं कि—सज्जनों की दोस्ती-मैत्री ऐसी (दूध और पानी की जैसी) होनी चाहिए ॥ ४२ ॥

अथैवं मैत्रीं दर्शयन्नेकदा तेन सागरदत्तेन मन्त्रिणं प्रति प्रोक्तं—पृथक् पृथक् प्रवहणस्थयोरावयोः का प्रीतिः ? अतस्त्वं मम प्रवहणे समागच्छेति धूर्त्तश्रेष्ठिवचनरञ्जितः सरलस्वभावो मन्त्री तद्यानपात्रे गतः। तदा सागरदत्तेनोक्तम्—यद्यावां वाहनप्रान्ते समुपविश्योच्छलज्जलधिकल्लोललीलां पश्यावस्तदा वरं, मन्त्रिणाऽपि तदङ्गीकृतम् । यथावसरं प्राप्य लोभाभिभूतेन पापिना तेन सागरदत्तेन मन्त्री समुद्रान्तः पातितः। मन्त्रिणा तु पततैव पंचपरमेष्ठिनमस्कारस्मरणानुभावेन फलकं लब्धम् ।

अब, एकबार इसीतरह मित्रता को दिखलाते हुए उस सागरदत्त सेठने मंत्री के प्रति बोला—अलग अलग जहाजों के रहने से हमारी और आप की मित्रता क्या ? इस लिए, तुम मेरे जहाज पर चले आओ, इसतरह की धूर्त्त सेठ की बात से खुश होकर सरल-सीधा (भोला) स्वभाव वाला मंत्री उसके जहाज में चला गया। तब, सागरदत्तने कहा—यदि हम दोनों जहाज के किनारे बैठकर उछलते हुए समुद्र

असंभवं हेममृगस्य जन्म, तथाऽपि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्न-विपत्ति-काले, धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥ ४४ ॥

सोने का हरिण का पैदा होना असम्भव है, फिर भी उस असंभवित सुवर्ण-मृग के लिए रामचन्द्रजी ललचा गए। प्रायः संकटकाल के आने पर मनुष्यों की बुद्धि भी मन्द (निकम्मी) हो जाती है ॥ ४४ ॥

तथा च—

और इसीतरह—

न स प्रकारः कोऽप्यस्ति, येनेयं भवितव्यता ।
छायेव निज-देहस्य, लंघ्यते जातु जन्तुभिः ॥ ४५ ॥

ऐसा कोई भी उपाय नहीं है, जिसके द्वारा यह भवितव्यता (होनहार) टलाई जा सके, अपनी देह की छाया की तरह यह भवितव्यता प्राणियों द्वारा कभी भी नहीं लांघी जा सकती ॥ ४५ ॥

अपि च—

और भी—

पातालमाविशतु यातु सुरेन्द्र-लोक—
मारोहतु क्षितिधराधिपतिं सुमेरुम् ।
मंत्रौषधैः प्रहरणैश्च करोतु रक्षां
यद्भावि तद्भवति नात्र विचार-हेतुः ॥ ४६ ॥

प्राणी पाताल में जाए या स्वर्ग में जाए अथवा सुमेरु पर्वत पर चढ़ जाए, मंत्रों-औषधियों और हथियारों द्वारा अपनी रक्षा (भले ही) करे, मगर जो होनहार है वह होकर ही रहता है, इसमें तर्क-वितर्क की गुंजाइश नहीं।

अथ समुद्रपतिते तस्मिन्नमात्ये चिन्ताकरणं तव नोचितं, चिन्तया किमपि हस्ते नैव समायाति तत्करणेन च कर्मबन्धोऽपि भवति ।

अब, मंत्री के समुद्र में गिरजाने पर उसके विषय में तुम्हारा चिन्ता करना ठीक नहीं, क्योंकि शोक करने से कुछ भी हाथ में नहीं आता और शोक करने से कर्म का बन्धन भी तो होता है ।

न पश्यति हि जात्यन्धः क्षुधान्धो नैव पश्यति ।
न पश्यति मदोन्मत्तो ह्यर्थी दोषं न पश्यति ॥ ४९ ॥

जन्म का अन्धा नहीं देखता, भूख से अन्धा नहीं देखता, मद से मतवाला नहीं देखता और अर्थी (धनी या याचक) दोष को नहीं देखता है ॥ ४९ ॥

तथा च —

और इसीतरह—

दिवा पश्यति नो घूकः काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवानक्तं न पश्यति ॥ ५० ॥

दिन में उल्लू नहीं देखता, रात में कौआ नहीं देखता और कोई अजबनिराला काम (वासना) में अंधा दिन और रात में नहीं देखता है ॥ ५० ॥

अन्यच्च—

और भी—

किमु कुवलय-नेत्राः सन्ति नो नाकि-नार्य—
स्त्रिदशपतिरहिल्यां तापसीं यत्सिषेवे ।
मनसि तृण-कुटीरे दीप्यमाने स्मराग्ना—
वुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि ॥ ५१ ॥

क्या कमल के समान सुन्दर आंखें वाली स्वर्ग की सुन्दरियां नहीं थीं ? जो इन्द्रने ऋषिपत्नी (गौतम की स्त्री) अहिल्या से व्यभिचार किया—ठीक है कि घास-फूस की कुटिया समान (निर्बल) मन में काम (वासना) रूपी अग्नि के जल उठने पर कोई पण्डित भी अच्छा या बुरा को नहीं पहचानता ॥ ५१ ॥

अपि च—

और भी—

विकलयति कला-कुशलं, तत्त्वविदं पंडितं विडम्बयति ।
अधरयति धीर-पुरुषं, क्षणेन मकर-ध्वजो देवः ॥ ५२ ॥

(संस्कृत छाया)—

ॐ नमः अर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः, नमः आचार्येभ्यः, नमः उपाध्यायेभ्यः, नमः लोके सर्वसाधुभ्यः ।

अरिहंतों (जिनेश्वरों) को नमस्कार हो,
सिद्धों को नमस्कार हो,
आचार्यों को नमस्कार हो,
उपाध्यायों को नमस्कार हो,
लोक में सब साधुओं को नमस्कार हो॥

तथा च :—

और इसीतरह :—

एसो मंगलनिलओ, भवविलओ सव्वसन्तिजणओ य ।
नवकारपरममंतो, चिंतिअमत्तो सुहं देइ ॥ ५४ ॥

(संस्कृत छाया)—

एष मंगल-निलयो भवविलयः सर्वशान्तिजनकश्च ।
नवकार-परम-मंत्रः चिन्तितमात्रः सुखं दत्ते ॥ ५४ ॥

यह महा प्राभाविक नमस्कार परम मंत्र है, मंगल का घर है, संसार से मुक्त कराने वाला है और सभी सुख-शान्ति करने वाला है, तथा स्मरण मात्र से सुख देता है ॥ ५४ ॥

अन्यच्च :—

और भी :—

अप्पुव्वो कल्पतरू, एसो चिन्तामणी अपुव्वो अ ।
जो झायइ सय कालं, सो पावइ सिवसुहं विउलं ॥ ५५ ॥

(संस्कृत छाया)—

अपूर्वः कल्पतरुः एष चिन्तामणिः अपूर्वश्च ।
यो ध्यायति सर्वकालं स प्राप्नोति शिवसुखं विपुलम् ॥ ५५ ॥

(संस्कृत छाया)—

अष्टैव च अष्ट शतानि अष्ट सहस्रं च अष्ट कोटिः ।
यो गणयति भक्तियुक्तः स प्राप्नोति शाश्वतं स्थानम् ॥ ५८ ॥

जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक नमस्कार मंत्र को आठ करोड़, आठ हजार, आठ सौ और आठ बार गिनता (जपता) है, वह शाश्वत पद (कैवल्यपद-मोक्षपद) को प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

अथ सोऽमात्यः समुद्रतटादग्रे भ्रमन्सन् कमनीयतरमेकं नगरं शून्यं दूरतो ददर्श। ततः शनैः शनैर्नगरमध्ये प्रविशन् सोऽनेकमणिमाणिक्यरत्नविद्रुममौक्तिकस्वर्णादि विविधवस्तुक्रयाणकापूर्णापणश्रेणीं सतोरणां मन्दिरधोरणीं चालोक्य मनसि वाढं चमच्चकार। साहसेनैकाक्येव नगरमध्ये व्रजन् स राजमन्दिरे सप्तमभूमिकोपरि गतः। तत्र खट्वोपर्येकामुष्ट्रिकां तथैव च तत्र स कृष्णश्वेताञ्जनभृतं कूपिकाद्वयं ददर्श। तद् दृष्ट्वा विस्मितः सन् सकौतुकं श्वेतांजनेनोष्ट्रिकाया नयनेऽञ्जनं चकार, तत्प्रभावाच्च सा दिव्यरूपा मानुषी जज्ञे। तत्क्षणमेव तस्मै तयाऽऽसनं दत्तम्, ततो मन्त्रिणा सा पृष्टा—अयि चन्द्रवदने! का त्वं? कथमेवंविधा ते दशा? किमिदं नगरं? कुतः कारणाच्च शून्यं वर्तते? इति श्रुत्वा सा कन्या निजनेत्राभ्यामश्रुपातं कुर्वती प्राह—भो नरपुङ्गव! त्वमितः शीघ्रं याहि, यतोऽत्रैका राक्षसी विद्यते, सा यदि द्रक्ष्यति तर्हि त्वां भक्षयिष्यति। तदा मन्त्रिणा पुनरपि पृष्टा—हे सुलोचने! सा का राक्षसी? इत्यादि समस्तं वृत्तान्तं त्वं स्पष्टतरं कथय। साऽऽह—हे पुरुषोत्तम! त्वं शृणु—अस्य नगरस्य स्वामी भीमसेनो राजाऽहं च तत्पुत्री रत्नसुन्दरीनाम्नी स मे पिता तु तापसभक्त आसीत्। एकदा कश्चित्तपस्वी मासोपवासी अस्मिन्नगरे समागतवान्, स च मत्पित्रा भोजनाय निमन्त्रितः, अहं च राज्ञा तस्य परिवेषणायाऽऽदिष्टा। ततः स मद्रूपं दृष्ट्वा चुक्षोभ, रात्रौ च मत्समीपे तस्करवृत्त्या समागच्छन् स प्राहरिकैर्धृत्वा बद्धः, प्रातश्च नृपस्य समर्पितः, राज्ञा च स शूल्यामारोपितः, तेनार्त्तध्यानेन स मृत्वा राक्षसी बभूव। तया चेदं नगरमुद्वासितं विधाय पूर्ववैरेण राजापि व्यापादितः, तद् दृष्ट्वा नगरलोकास्सर्वेऽपि भयभ्रान्ताः पलायनं चक्रुरिति नगरं शून्यं जातम्। पूर्वभवमहामोहभावतोऽहं तया-एवं रक्षिता, कृष्णाञ्जनेनोष्ट्रीरूपेण स्थापिता, प्रतिदिनं च सा राक्षसी मत्सत्कारशुश्रूषाकरणार्थमत्र समागच्छति, अतस्त्वं प्रच्छन्नो भव, यतः सा राक्षसी संप्रत्येव समागमिष्यति। पुनरेकदा सा राक्षसी मया पृष्टा—हे मातः अहमत्रारण्यसदृशे सौधेऽप्येकाकिनी किं करोमि? अतस्त्वं मां

अंजन से ऊँटनी करके रख छोड़ी है और प्रति दिन वह राक्षसी मेरा आदर-सत्कार करने के लिए यहां आती है, इस लिए, तुम छिप जाओ, क्योंकि वह राक्षसी अभी आयगी। फिर एक समय मैंने उस राक्षसी को पूछा—हे मां, मैं वन समान इस महल में भी अकेली क्या करूं ? इसलिए, तुम यदि मुझे मार डालती तो बहुत अच्छा होता। तब उसने कहा—यदि तुम्हारे योग्य वर मिलेगा, तो तुमको उसे दे डालूंगी। हे सत्पुरुष, उसने पहले मुझ से ऐसा कहा है। अब, अभी उसके आने का समय है, और यह शायद मुझे तुझको दे डाले, तो तुम इस राक्षसी के पास से आकाश गामिनी विद्या, प्रभाव वाली खाट, वेशकीमती दिव्य रत्नों की गांठ और प्रभाव वाली उजला-लाल करवीर की कंबिका (चाबुक) इतनी चीजें कंगन खोलने के समय मांगना। इसतरह उसके कथन के संकेत (इशारा) को (मन में) रखकर फिर उसको काला अंजन से ऊँटनी बनाकर मंत्री छिपकर बैठ गया। इधर मनुष्य को खाती हूं, ऐसी बोलती हुई वह राक्षसी आ गई और उसने उजला अंजन से ऊँटनी को लड़की बना डाली। फिर उस लड़कीने उस राक्षसी से बातचीत करती हुई अपने योग्य वर (भावी पति) की याचना की। तब राक्षसीने कहा—कहीं भी तुम्हारे लायक वर देखकर उसको तुम्हें दे दूंगी।

यदुक्तं—

कहा भी है—

मूर्ख-निर्धन-दूरस्थ — शूर-मोक्षाभिलाषिणाम् ।
त्रिगुणाधिकवर्षाणां, चापि देया न कन्यका ॥ ५६ ॥

मूर्ख को, दरिद्र को, दूर में रहने वालों को, शूर को, मोक्ष के अभिलाषी को और तीन गुना से अधिक उमर वालों को लड़की नहीं देनी चाहिए ॥ ५६ ॥

एवं च—

और इसी तरह—

बधिर-क्लीव-मूकानां, खंजान्ध-जडचेतसाम् ।
सहसा घात-कर्तॄणां, नूनं देया न कन्यका ॥ ६० ॥

बहरे को, गूंगे को, नपुंसक को, लंगड़े को, अंधे को और जड़ बुद्धि वाले को और बिना विचारे हिंसक को, लड़की नहीं देनी चाहिए ॥ ६० ॥

अन्यच्चापि—

और भी—

हे प्राणवल्लभ ! स्वामिन् ! इदानीमावां स्वस्थानं गच्छावस्तदा वरम्। मन्त्रिणोक्तम्—कथं गम्यते स्वपुरादिमार्गाऽपरिज्ञानात् ? ततस्तयोक्तम्—सांप्रतमावाभ्यां रत्नग्रन्थिद्वयं गृहीत्वा खट्वायां चोपविश्य श्वेतकरवीरकम्ब्या साऽऽहन्तव्या। ततः सा चिन्तिते पुरे नेष्यति, यदि च कदाचिद्राक्षसी पृष्ठे समागच्छेत्तदा त्वया सा रक्तकरवीरकंब्या हन्तव्या, ततः सा निष्प्रभावा सती पश्चाद्यास्यति। अथैवं परस्परं विमृश्य चेलतुः, तयोश्चलनान्तरं सा राक्षसी तत्र समागता स्वस्थानं च शून्यं दृष्ट्वोवाच—हा ! मुषिताऽस्मीति चिन्तयन्ती सा तयोः पृष्ठे धाविता मिलिता च। मन्त्रिणा रक्तकरवीरकंब्या निहता सती पश्चान्निःप्रभावा स्वस्थानं जगाम। ततो यत्र गंभीरपुरपत्तने तस्य द्वे प्राक्तने भार्ये आस्तां, तस्मिन्नेव पुरे उद्यानवनमध्ये खट्वाप्रभावान्मंत्री समागात्। तत्रैव रमणीयतरवनमध्ये स्वस्त्रीं रत्नसुन्दरीं बहिर्मुक्त्वा स मन्त्री निवासस्थानविलोकनार्थं नगरान्तर्गतः। इतस्तन्नगरतस्तत्रैका कपटकलाकलापकुशला वेश्या समागता, तया तामतिचारुरूपां मन्त्रिस्त्रीं दृष्ट्वा चित्ते चिन्तयामास—किमियं स्वर्गाद्भ्रष्टाऽत्र समागता स्ववधूः ? वा मन्त्रसाधनसोद्यमा विद्याधरी ? विषोद्विग्ना ह्यत्रागता किं वा पातालकन्येयम् ? रतिरिन्द्राणी पार्वती हरिप्रिया वेति ? पुनस्तया ध्यातम्—यद्येषाऽस्मद्गृहे समागच्छेत्तर्हि मम महत्तरं भाग्यं फलेत्, पुनरंगणे गजगामिनी जगदानन्ददायिनी चारुकल्पवल्लीवाऽऽरोपिता भवेत्। अतः केनाप्युपायेनैषा ग्राह्येति विमृश्य तत्पार्श्वं समागत्य सा तां प्रति वदति स्म।

इस तरह उसकी बात सुनकर लड़कीने कहा—मैं स्वयं ही अपने योग्य बर को दिखला देती हूं, राक्षसीने कहा—तो अभी तुमको उसे दे दूं। फिर पूर्व-संकेत से उसी समय मंत्री प्रगट हो गया, राक्षसीने भी उस लड़की के साथ गांधर्व विवाह से उस मंत्री का विवाह करा दिया। और कंगन खोलने के समय में खाट आदि (पूर्वोक्त) चार चीजें मंत्रीने राक्षसी से मांगीं, राक्षसीने मंत्री को वे चारों चीजें दे दीं। फिर एक समय राक्षसी क्रीड़ा आदि करने के लिए दूसरी जगह गई, तब उस लड़कीने मंत्री को कहा—हे प्राणनाथ, स्वामी, इस समय यदि हम दोनों अपने (आपके) स्थान को चलें तो अच्छा है। मंत्रीने कहा—अपने नगर के मार्ग को नहीं जानने से किसतरह जाया जाए। तब उस (लड़की) ने कहा—अभी हम दोनों रत्न की दोनों गठरियों को लेकर और खाटपर बैठकर श्वेत करवीर की चाबुक से खाट को मारेंगे, तब वह जहां जाना है वहां ले जायगा। अगर चेत् कहीं राक्षसी हमारे पीछे आयगी तो तुम उसे लाल करवीर की चाबुक से मारना, फिर वह निस्तेज (निर्बल) होकर पीछे लौट जायगी, इसतरह दोनों आपस में विचार करके चल दिए। दोनों के वहां से चल देने के बाद वह राक्षसी वहां आई, अपने स्थान को सुन-सान देखकर बोली—हाय, मैं चुराई गई, इसतरह विचार करती हुई वह उन दोनों

तब कपट की पण्डिताई से युक्त होकर वेश्याने कहा—कि तुम मेरे भाई की स्त्री हो, यहां क्यों ठहरी हो ? मंत्री तो मेरे घर पर पहुंच गया है, इसी लिए, उसने तुम्हें बुलाने के लिए मुझे भेजा है, अतः तुम मेरे साथ मेरे घर को चलो। तब वह सीधा-सादा स्वभाव वाली उस की मीठी बातों के प्रपंच से ठगी हुई उसी समय उसके घर चली गई।

यतः—

क्योंकि :—

मायया हि महापापै—र्वंच्यते सरलो जनः।
मत्स्यः समुद्र-मध्यस्थो धीवरैर्बध्यते यथा ॥ ६५ ॥

सीधा-सादा आदमी माया के द्वारा बड़े पापों से ठगा जाता है, जैसे समुद्र के बीच में रही हुई मछली मल्लाहों के द्वारा (पकड़ कर) मारी जाती है ॥ ६५ ॥

तथा च—

और भी—

द्यूतकारे नटे धूर्त्ते, वेश्ययां च विशेषतः।
मायां कृत्वा निजावासं, स्थिताऽस्ति खलु शाश्वती ॥ ६६ ॥

जुआरी में, नट में, ठग में, और विशेष करके वेश्या में यह पृथिवी माया करके अपना वास में रही हुई है, नहीं तो कब कि कब गायब हो गई होती ॥ ६६ ॥

अतः सर्वत्र पुरुषैः सरलस्वभावो नैव रक्षणीयः, किन्तु यथाऽवसरं यथास्थानमेव सर्वत्र स्वबुद्धिचातुर्यं करणीयम्।

इसलिए, पुरुषों को सभी जगह सरल स्वभाव होकर नहीं रहना चाहिए, किन्तु देश-काल के अनुसार ही सब जगह खूब होशियारी से काम करना चाहिए।

यतः—

क्योंकि—

नात्यन्तं सरलैर्भाव्यं, गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
सरलास्तत्र छिद्यन्ते, कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥ ६७ ॥

गूँजित एक बड़ा महल को रत्नसुन्दरीने देखा। फिर उस वेश्याने रत्नसुन्दरी को अपने आवास की सातमी भूमि में रख छोड़ी। अनन्तर रत्नसुन्दरीने वेश्या को पूछा—मेरा पति कहां है? वेश्या बोली—यहां वहुतेरे तुम्हारे पति आजायेंगे। जो राजा हैं, राजकुमार हैं, मण्डलाधीश हैं, बड़े सेठ हैं और व्यापारी हैं, वे तुम्हारे सेवक (नौकर) हो जाएंगे। तुम्हारे आज्ञाओं के अधीन होकर राजा लोग छत्र, चामर, वाजे, विस्तर, हाथी और घोड़े लावेंगे। नित-नये अत्यन्त सुन्दर तुन्हारी इच्छा के अनुसार भोग-विलास की चीजें हो जाएंगे। हे सुन्दरी, अधिक क्या? तुम्हारे चरण कमल पर नये-नये लोग सर्वदा ही गिरेंगे। तुम्हारे नयन-कटाक्ष से देखे गये सुर-असुर से सेवित मुनि लोग भी तुम्हारे वश में हो जाएंगे। हे सुन्दरि, अधिक कहने से क्या? मनुष्य होने पर तुम अपने मन में जो कुछ विचारोगी वह सब तुमको देवता की तरह हो जायगा, इत्यादि कहकर उस वेश्याने अपना कुल का सारा आचरण बतला दिया। तव मंत्री की स्त्रीने विचार किया—अरे, यह तो वेश्या का घर है, हाय, अब मुझे इस वेश्या के घर में पति के विना सब से उत्तम अलंकार रूप अपना शील को किस तरह रक्षा करना चाहिए?

तदुक्तं सत्फलं—

शील का फल कहा है कि—

शीलं नाम नृणां कुलोन्नतिकरं शीलं परं भूषणं,
शीलं ह्यप्रतिपाति-वित्तमनघं शीलं सुगत्यावहम्।
शीलं दुर्गति-नाशनं सुविपुलं शीलं यशः पावनं,
शीलं निर्वृति-हेत्वनन्त-सुखदं शीलन्तु कल्पद्रुमः॥ ६९॥

शील मनुष्यों के कुल की उन्नति करने वाला है, शील उत्कृष्ट अलंकार है, शील निश्चय करके संरक्षण करने वाला धन है, शील निष्पाप है—अच्छी गति को देने वाला है, शील दुःख-दरिद्रता को नाश करने वाला है, शील महान् पवित्र यश है, शील छुटकारा (मोक्ष) का कारण है—अनन्त सुख देने वाला है और शील कल्पवृक्ष है॥ ६९॥

शीलं सर्वगुणौघ-मस्तक-मणिः शीलं विपद्रक्षणं,
शीलं भूषणमुज्ज्वलं मुनिजनः शीलं समासेवितम्।
दुर्वाराधिकदुःख-वह्नि-शमने प्रावृट्-पयोदाधिकं,
शीलं सर्वसुखैककारणमतः कस्याऽस्ति नो सम्मतम्?॥ ७०॥

सुन्दर्या कपाटे समुद्घाटिते, तयोपलक्षितश्च मन्त्री। ततः श्रीयुगादिदेवप्रासादे समागत्य प्रवहण-चलनकालादारभ्य समुद्रान्तःपतनं यावत्तेन संबन्धः प्रोक्तः। तदा सौभाग्यसुन्दर्याऽपि स्वपतिमुपलक्ष्य कपाटे समुद्घाटिते। ततो मन्त्री गणिकाया गृहे समागत्य सफलकप्राप्ति—समुद्रतरणादारभ्य तद्गंभीरपुरप्राप्तिनिवासस्थानविलोकनभोजनग्रहणनिमित्तं नगरमध्यागमनं यावद् वृत्तान्तमुक्तवान्। तदा तया तृतीयया रत्नसुन्दर्याऽपि तथैव मन्त्रिमुपलक्ष्य कपाटे समुद्घाटिते। ततस्तास्तिस्रोऽपि भार्याः स्वस्ववृत्तान्तं मन्त्रिणे कथयामासुः। ततः प्रमुदितेन राज्ञाऽपि निजराज्यार्द्धं स्वकन्यां शीलसुन्दरीञ्च मन्त्रिणे दत्त्वा साश्चर्यं पृष्टम्—भवानब्धौ कथं निपतित इति? मया तु तवाति-चातुर्य्यं विलोक्यते, अतोऽहमेवं संभावयामि केनचिदन्येन कपटिदुष्टेन निपातितो भविष्यतीति। अथ त्वं स्वं यथाभूतं वृत्तं मया निगद, तन्निशम्याहं तद्योग्यं दण्डं दास्यामि, येनाग्रे कोऽप्यन्यो दुष्टात्मैवंविधमकार्यं न कुर्यात्। तादृशानि राज्ञो वचनान्याकर्ण्य करुणापरो मन्त्री किंचिन्मौन-मवलंब्योक्तवान्, हे राजन्नहं स्वात्मनोऽसावधानत्वेनैव निपतितः। यत उक्तं महतां कोऽप्यशुभं कुर्यात्तथाऽपि ते तु तस्य शुभमेव कुर्वन्ति।

इसके बाद उसने अपना शील (इज्जत) खराब होने के डर से किसी अन्दर के मकान में घूसकर किवाड़ लगा दिए और उसके चरित्र के माहात्म्य से वे किवाड़ किसी तरह भी नहीं उघड़ सके। अनन्तर पहले व्याही हुई मंत्री की स्त्री वह विनयसुन्दरी भी श्रीदत्तकुंभार के घर में रही हुई किसी कामी राज-कुमार के द्वारा हँसी-मजाक आदि से परेशान होकर अपना शील (इज्जत) रक्षा के लिए वह पतिव्रता उसी तरह कपाट लगाकर बैठ गई। इधर यह समाचार राजाने अपने दूतों के द्वारा सुना, तब अपना नगर में अनर्थ होने के डर से ढिंढोला पिटवाया कि—जो कोई इन तीनों किवाड़ों को खोलेगा और तीनों स्त्रियों को बोलावेगा, उसको राजा अपना आधा राज्य और अपनी लड़की देगा। इधर वह मंत्री अपने रहने के लिए जगह को देखकर और भोजन लेकर जबतक उस बगीचा में गया तबतक उसने वहाँ अपनी स्त्री रत्नसुन्दरी नहीं देखी। उस समय उस वन में इधर उधर ढूढ़ने पर भी जब वह कहीं नहीं मिली, तब व्याकुल होकर वह नगर में घूमने लगा। इधर उसने पटह की उद्घोपणा (ढिंढोरा) सुनी और मन मे सब अपनी ही बात समझकर पटह को छू कर बहुत लोगों के साथ होकर मंत्री कुंभार के घर में आगया। वहां दरवाजे के पास आकर मंत्रीने श्रीपुरनगर से निकलने के समय से लेकर गंभीरपुर में पहुँचना विनयसुन्दरी का देवकुल में छोड़ने तक सभी समाचार कह सुनाया। यह सुनकर विनय-सुन्दरीने शीघ्र कपाट खोल दिया और उसने मंत्री को पहचान लिया। वहां से श्री ऋषभ देव के मन्दिर में आकर नाव के चलने के समय से लेकर समुद्र के बीच गिरने तक का समाचार उसने कह सुनाया।

फिर राजाने अत्यन्त आग्रह पूर्वक कहा—जो कुछ पहले हो गया है, वह आपको कहना ही पड़ेगा, इत्यादि अधिक आग्रह से युक्त राजा की बात सुनकर मन में कहने की इच्छा न होने पर भी राजा के अत्यन्त आग्रह से मंत्रीने सागरदत्त सेठ की थोड़ी सी बात कह सुनाई, परन्तु राजाने तो थोड़ा कहने से ही अपनी बुद्धि की कुशलता से सारा हाल समझ लिया। उसके पीछे उस धनी के साथ अनाचार और अनीति आदि कार्य से बहुत क्रोधित होकर राजाने उसी समय सेठ को बुलवा कर बोला—रे नीच, पराई स्त्री और धन का लोभी होकर तुम इसतरह भारी पाप करते हो। इसतरह अनेक प्रकार से निन्दा, भर्त्सना, धिक्कार आदि बातों से उसे फटकार कर उसके पास से मंत्री का धन मंत्री को दिलाया। फिर उस अन्यायकारी को राजा चोर का दण्ड देने लगा,—तब दयालु मंत्रीने राजा के पाँवों में पड़कर बोला—हे राजन्, यह मेरा महान् उपकारी है। इसके प्रसाद से ही यहां आपके पास आकर जो आपकी लड़की से मैंने विवाह किया, यह सब इसका ही प्रसाद है। इत्यादि कहकर मंत्रीने सेठ सागरदत्त को जिन्दा छोड़वा दिया। क्योंकि, बड़ों के ये ही लक्षण हैं।

तदुक्तं च—

कहा भी है—

चेतः सार्द्रतरं वचः सुमधुरं दृष्टिः प्रसन्नोज्वला,
शक्तिः क्षान्ति-युता मतिः श्रित-नया श्रीर्दीन-दैन्यापहा ।
रूपं शील-युतं श्रुतं गत-मदं स्वामित्वमुत्सेकता—
निर्मुक्तं प्रकटान्यहो ! नव सुधा-कुण्डान्यमून्युत्तमे ॥ ७३ ॥

अहा! उत्तम पुरुष में नौ अमृत के कुण्ड प्रत्यक्ष हैं, दया से पिघला हुआ हृदय, सुन्दर वचन, प्रसन्नता युक्त दृष्टि, क्षमता (सहनशीलता) युक्त शक्ति, नीतियुक्त बुद्धि, दुःखी-दरिद्रों के दैन्य निवारण के लिए लक्ष्मी, सदाचार युक्त रूप, घमण्ड रहित शास्त्र-ज्ञान, अभिमान रहित स्वामीपना ॥ ७३ ॥

अनेन कारणेन प्रत्युत सत्कारसम्मानदानपुरस्सरं मन्त्री तं सागरदत्तश्रेष्ठिनं स्वस्थाने प्रेषयामास। अथ मन्त्री ताभिश्चतसृभिर्जायाभिः सह दोगुन्दुकदेववद्विषयसुखान्युपभुंजानस्तत्र कियन्ति दिनानि सुखेनास्थात्। अथैकदा पाश्चात्यरात्रौ स धर्मबुद्धिर्मन्त्री नित्यधर्मकर्मसाधनाय जागरितः सन् सुभावेन तद्विधाय पश्चान्मनसि विचारयामास। अथ श्वशुरालये संतिष्ठमानस्य मे बहूनि दिनानि व्यतीयुः। अतःपरमत्र निवासो मे गर्हणीयो हास्यहेतुर्लोकविरुद्धापमाननिलयश्चातएवायुक्तोऽस्ति।

नहीं जीमते थे, केसर बावू को भोजन करने के लिए बढ़ियाँ पीढ़ा (काठ का आसन) चाहिए, पुण्डरीक बावू को बिलकुल महीन खुशबूदार दाने भोजन के लिए चाहिए और चौथा घोघर पेटू और धृष्ट था, उसे किसी तरह पेट भरना चाहिए।

ये चारों के चारों एक ही दिन अपने ससुर के घर पर आगये। पांच-सात दिनों तक तो ससुर-शाले आदिने उनका उचित सत्कार किया, उनके नियमित हवन, पीठ आदि दान पूर्वक सुन्दर खान-पान का व्यवहार किया। कुछ अधिक दिन होने पर भी इन जमाईयों के नहीं जाने पर ससुराल वाले ऊब गए और ऊब कर एक दिन रवि बावू को हवन करने की सामग्री नहीं दी, अतः समझदार रवि बावू कुछ रुष्टता लिए हुए उसी दिन अपने घर चले गए। दूसरे दिन केसर बाबू को बिना पीढ़ा को ही भोजन दिया गया, अतः नाराज होकर बेचारे केसर बावू भी अपने मकान उसी दिन चले गए। तीसरे दिन पुण्डरीक बावू को मोटा अधजला खाना दिया गया, अतः वे भी अपना सा मुंह लेकर उसी दिन वहां से चलते बने, फिर चौथे दिन घोघर बावू जब इन तीनों की हालत देखकर भी नहीं जा रहे थे, तो ससुराल वालों ने समझ लिया कि यह महा धृष्ट है, अतः उनको गरदनियां (गले में हाथ) देकर वहां से भगा दिया।

इत्यादि विचार्य पुनर्मत्प्रतिज्ञाऽपि सम्यक् पूर्णाऽजन्यतो मया प्रातः श्वशुरादेशं समभिगृह्य स्वदेशं प्रति गन्तव्यमेव। ततो निशानन्तरं प्रातःकाले मन्त्री स्वविचारानुकूलमखिलं विधाय ततोऽर्द्धराज्यसंपत्तिं स्त्रीचतुष्टयं चादाय हयगजरथपत्त्यादिभिर्वारिधिपूर इव पापबुद्धिनामानं राजानं पराभवितुं श्रीपुरं नगरं प्रति चलितः। मार्गे समागच्छन् राजसमूहैरुपहारपूर्वकं वन्द्यमानः पूज्यमानश्चानुक्रमेण श्रीपुरनगरसमीपे समागतवान्। एवं तमागच्छन्तं विज्ञाय पूर्लोका व्याकुलाः समजायन्त, राजाऽपि परचक्रमागतं विदित्वा प्राकारं सज्जीकृत्यान्तः स्थितः। अथ मन्त्रिणा सन्ध्याकाले पापबुद्धिराजस्यान्तिके दूतः प्रेपितः स कीदृशः।

इत्यादि विचार कर फिर मेरी प्रतिज्ञा भी पूरी हुई, इसलिए, मुझे सुवह में स्वसुर की आज्ञा लेकर अपने देश को जाना ही चाहिए। फिर रात बीतने के बाद सुवह में मंत्री अपने विचार के अनुसार सारा काम करके वहां से आधे राज्य की सम्पत्ति और चारों स्त्रियों को लेकर हाथी-घोड़े-रथ-सिपाही आदि से समुद्र की वढ़ाव (बाढ़-ज्वार भाठा) की तरह पापबुद्धि नाम के राजा को हराने के लिए श्रीपुर नगर को चला। मार्ग में आते हुए उसको अनेक राजाने भेंट देकर वन्दना की और पूजा की, इसतरह क्रमशः मंत्री श्रीपुर नगर के समीप आगया। इसतरह उसको आते हुए जानकर नगर के लोग व्याकुल हो गए। राजा भी दूसरे की सेना को आई हुई जानकर किला को मरम्मत कर किला के अन्दर बैठ गया। तब मंत्रीने संध्या काल में पापबुद्धि राजा के पास अपना एक दूत भेजा—वह दूत कैसा था—

वह दूत भी आकर अद्भुत वाणी के द्वारा उस राजाको ऐसा कहा—हे राजन् ! मेरे मालिक बड़े प्रतापी हैं, उनके आगे कोई भी बलशाली टिक नहीं सकता, इसलिए प्रति दिन उनका तेज बढ़ता जाता है, मैं यह जानता हूं कि किसी भी माताने इनके समान दूसरा लड़का संसार में पैदा नहीं किया। जो उनकी आज्ञा को नहीं अंगीकार करता है उसका सारा राज्य इसतरह जल जाता है जैसे भारी ओले (बरफ) वन को जला देते हैं। कौन ऐसा वीर है जो उनके प्रताप को सह सके ? जिसने मेरे स्वामी के आगे गर्व किया उसका सारा गर्व मेरे स्वामीने चकना-चूर कर दिया। इसलिए आप वहां जाकर उनसे सन्धि ही कर लें, नहीं तो लड़ना पड़ेगा, स्वामीने ऐसी ही हुक्म दी है और वही आपके पास बोलने को आया हूं। यह यदि आपको मंजूर है तो लड़ाई के मैदान में जाना ही है, नामंजूर हो तो दांतों के तले तिनका रख कर नगर से बाहर हो जाना चाहिए। इसतरह दूत की बात को सुनकर कमान चढ़ाकर लाल लाल आखें करके श्रीपुर का स्वामी पापबुद्धि राजा बोला—मैं क्षत्रिय हूं, मरना तो एकबार है ही, इसलिए पहले के सारे यश को विनाश कैसे करूं ? इसलिए हे दूतवर ! जैसे अग्नि में फतिंगा अपने आप ही गिर कर विनाश हो जाता है, उसी तरह तुम्हारे स्वामीने भी यह मरने का ढिढ़ोरा खुद ही पिटवा दिया है। इस लिए वह किसतरह कुशल पूर्वक अपने घर को जासकता है ? अरे ! तुम जाओ और अपने मालिक को शीघ्र कह दो—यदि तुम्हारा राजा युद्ध करने के लिए तैयार होकर संग्राम भूमि में आने की इच्छा करता है तो फिर सूर्योदय समय से ही युद्ध करने की बात तुम्हारे स्वामीने ठान दी, इसलिए उसके जितने दल-बल हो, वह सब लेकर उसे तुरत आजाना चाहिए, इसमें देर नहीं करनी चाहिए। मैंने ये नगर के दरवाजे संध्या काल में नगर की रक्षा के लिए बन्द करवा दिए थे, सुबह में दरवाजे खोलकर युद्ध के बाजे-गाजे के साथ तुम्हारे स्वामी के साथ अच्छी तरह लडूंगा। इसतरह पापबुद्धि राजा की बात सुनकर दूतने शीघ्र आकर वह सारा हाल अपने राजा को सुना दिया। फिर पापबुद्धि राजा सुबह में चतुरंगिणी सेना तैयार कर अपने नगर से बाहर निकला, किन्तु मार्ग में अपशकुन हो गया फिर भी गर्व से मत वाला वह उसे नहीं गिना, क्योंकि – घमण्ड के अधीन होकर खराब आदमी लोगों के द्वारा मजाक उड़ाने लायक बेकार काम क्या नहीं करते ?

यतः—

क्योंकि—

उत्क्षिप्य टिट्टिभः पाद-मास्ते भङ्ग-भयाद्भुवः ।
स्वचित्त-कल्पितो गर्वः, काङ्गिनां नोपयुज्यते ? ॥ ७७ ॥

पृथिवी के टूक टूक हो जाने के भय से टिटही (एक पक्षी) अपने पांव को ऊपर करके ही रहता है। प्राणियों के अपने मन में आरोपण किया हुआ गर्व कहां ठीक नहीं है ? ॥ ७७ ॥

या निर्नायका अप्सरसस्ता सर्वा अपि नाथममिलषन्त्यो विमान आसीनास्तत्र समाजग्मुः, यतो रणे मृतानां स्वर्गोत्पत्तिरित्युक्तत्वात्। रोषाऽतिशयेनैवं युद्धमानास्ते पापबुद्धिसुभटा मतिसागर-सुभटैरन्ते त्वरितमेव पराजिताः। ततः पापबुद्धी राजा च तत्सुभटगणमध्य एव बद्धः। अथ मन्त्री राजानं प्रति पृच्छति स्म—किं भवान्मामुपलक्षयति? तदा राजा कथयति स्म—भास्कर-मिव तेजस्विनं भवन्तं को न जानाति?, ततः पुनर्मन्त्री कथयति स्म—एतदहं नो पृच्छामि किन्तु कोऽस्म्यहमिति पृच्छामि, तदा राजा नाहं जानामीति प्रत्युवाच। ततः सचिवेनोक्तम्, श्रूयताम्—हे राजन्! सोऽहं धर्मबुद्धिनामा भवन्मंत्री विदेशात्परावृत्य धर्मफलप्रदर्शनार्थं भवदग्रे समागतोऽस्मि। पुनर्मन्त्री साञ्जलिरूचे—हे राजन्! कथय धर्मो निरंतरं सत्फल-दायकोऽस्ति नवेति? दृश्यताम्—धर्मत एव निखिललक्ष्मीलाभः सर्वा आशा च मे परिपूर्णा जाता। एवं द्वितीयवारमपि विदेशे गत्वा धर्मफलं प्रदर्श्य तेन मंत्रिणा स राजा जैनधर्मे दृढीकृत-स्ततस्तेन नृपेणापि दुर्गतिदायकमधर्मं पापपाशकमपनीय भवाब्धितरणतारणतरिरूपा जिनाज्ञा सहर्षमंगीकृता, तत्क्षण एव मन्त्रिणा बन्धनान्मुक्तो राजा हर्षतौर्यत्रिकं तत्र सम्यगवीवदत्। अहो! कथंभूतमिदमाश्चर्यजनकं मंत्रिणः सौजन्यम्, यद्राज्ञो धर्मिकरणाय देशान्तरं गतः। नानाविधानि दुःखानि च समवलोकितानि, परमवसाने तु तेन राजानं धर्मिणं विधायैव मुक्तः। एवंभूतस्वभाव-वन्तः परोपकारिणः सज्जना अस्मिन् लोके विरला एव भवन्ति।

अनन्तर बीच में रण का खंभा गाड़ कर दोनों पक्ष के योधा परस्पर आमने सामने हो गऐ और युद्ध के बाजे बजवा दिए। उसके बाद वे दोनों सेनाएँ महान् बल के घमण्ड से युद्ध शुरु करने लगीं—जैसे—हाथी हाथियों के साथ, घोड़े घोड़ों के साथ, पैदल पैदलों के साथ, रथसवार रथसवारों के साथ, नाल-गोली वाले नाल-गोली वालों के साथ भिड़ गए। उससे उड़ती हुई धूली की ढेर से सूर्य ढक गया। वहां हाथी बादल की तरह गरजते थे, बिजली गिरने की तरह तलवार की धारें गिरने लगीं और बाणों की वर्षा जल धारा की तरह बरसने लगीं। झरना की तरह रक्त का बहाव फैल गया। वहां रण में जो कायर थे, वे सब ऐसे थर्रा (सहम) गए जैसे वर्षाकाल में इन्द्र जौ सूख जाते हैं। अधिक खून गिरने से पृथिवी पंकिल (कीचड़ वाली) हो गई। धूलियों के बढ़ाव से आकाश ढक गया, उस समय क्या यह वर्षा काल आगया? लोग इसतरह शक करने लगे। जो अच्छे लड़वैये थे वे शेर की तरह गर्जना करते थे, उस घोर शब्द से दूसरे का शब्द सुनाई नहीं देता था। बिना पति वाली स्वर्ग की अप्सराएँ अपने अपने पति को चाहती हुई विमान पर बैठी हुई वहां आगई, क्योंकि युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग में उत्पत्ति होती है, ऐसा शास्त्रों में कहा हुआ है। अत्यन्त क्रोध से युद्ध करते हुए पापबुद्धि के सुभट लोग धर्मबुद्धि

तथा च—

और भी—

अपेक्षन्ते न च स्नेहं, न पात्रं न दशान्तरम् ।
सदा लोक-हितासक्ता, रत्न-दीपा इवोत्तमाः ॥ ८२ ॥

अच्छे लोग (सज्जन) रत्न और दीप के समान परोपकार में लगे रहते हैं, वे प्रेम की अपेक्षा नहीं रखते न पात्र की अपेक्षा रखते हैं और न दूसरी हालतों (अवस्थाओं) की ही अपेक्षा रखते हैं ॥ ८२ ॥

ततस्तयोः परस्परं परममैत्री संजाता, अतएव सम्यक्तया द्वावपि धर्मध्यानमेकमनसौ सन्तौ चक्रतुः । पुनस्तत्रैव नगरे सुखेन तौ राज्यं पालयामासतुः । अथ कियता कालेन केवलज्ञानिनं सन्मुनिं वनपालमुखादुपवने समवसृतं श्रुत्वा नृपसचिवादयस्तस्य दर्शनार्थं समागताः । तत्र केवल-मुनिनाऽप्येवं संसारार्णवतारिणी विषयकषायमोहाज्ञानतिमिरविदारिणी धर्मदेशना प्रारब्धा ।

फिर मंत्री और राजा दोनों में परस्पर पूरी मैत्री हो गई, इसलिए, वे दोनों अच्छी तरह एक मन होकर धर्मध्यान करने लगे । फिर उसी नगर में वे दोनों सुख पूर्वक राज्य करने लगे । फिर कुछ दिन के वाद वन पालक के मुख से उपवन में उतरे हुए केवल ज्ञानी मुनि को सुनकर, राजा, मंत्री आदि उनकी वन्दना करने के लिए वहाँ गए । वहां केवल मुनि ने भी संसार-सागर से तारने वाली विषय-कषाय-मोह अज्ञान रूपी अन्धकार को नाश करने वाली धर्म-देशना प्रारम्भ कर दी ।

यथा—

जैसे :—

त्रैकाल्यं जिन-पूजनं प्रतिदिनं संघस्य सम्माननं,
स्वाध्यायो गुरु-सेवनं च विधिना दानं तथाऽऽवश्यकम् ।
शक्त्या च व्रत-पालनं वर-तपो ज्ञानस्य पाठस्तथा,
सैष श्रावक-पुङ्गवस्य कथितो धर्मो जिनेन्द्रागमे ॥ ८३ ॥

तीनों काल में भगवान् जिनेन्द्र की पूजा, प्रति दिन संघ का सम्मान, स्वाध्याय और गुरु की सेवा तथा विधि पूर्वक आवश्यक (सामायिक-संध्यावन्दन) और दान एवं शक्ति के अनुसार व्रत का पालन, अच्छा तप और ज्ञान का पाठ, यह श्रेष्ठ श्रावक का धर्म जिनागम में कहा गया है ॥ ८३ ॥

तस्य कालस्याऽग्रे तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेववासुदेवप्रतिवासुदेवादिसर्वशक्तिमद्देवानामपि बलं न प्रबलति ।

उस काल के आगे तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि सर्व शक्तिमान् देवताओं का भी बल नहीं चलता है।

यतः—

क्योंकि—

नो विद्या न च भेषजं न च पिता नो बान्धवा नो सुताः,
नाभीष्टा कुलदेवता न जननी स्नेहानुबन्धान्विताः ।
नार्था न स्वजनो न वा परिजनः शारीरिकं नो बलं,
नो शक्ताः श्वशुरः स्वसा सुरवराः सन्धातुमायुर्ध्रुवम् ॥ ८६ ॥

न विद्या, न औषध और न माता-पिता, न भाई-बन्धु, न लड़के लड़की, न अपने अभीष्ट कुल देवता और न मित्रवर्ग, न धन, न अपना नौकर चाकर और न पड़ोसी, न शरीर का बल न श्वसुर, न बहिन और न बड़े देव अथात् कोई भी आयु को जोड़ (बढ़ा) नहीं सकते ॥ ८६ ॥

अतोऽयं महतो महानुभावानपि प्राणिनो भक्षयति । पुनस्तदग्रेऽन्येषां पामरप्राणिनां का गणना ?

इसलिए, यह विकराल काल महापुरुषों के महान् प्राणों को भी भक्षण कर डालता है, फिर दूसरे पामर प्राणियों की कथा ही क्या ?

तदुक्तं च—

कहा भी है—

ये पाताल-निवासिनोऽसुरगणा ये स्वैरिणो व्यन्तराः,
ये ज्योतिष्क-विमानवासि-विबुधास्तारान्तचन्द्रादयः ।
सौधर्मादि-सुरालये सुरगणा ये चापि वैमानिका—
स्ते सर्वेऽपि कृतान्त-वासमवशाः गच्छन्ति किं शोच्यते ? ॥ ८७ ॥

जिन सजीव शरीरों ने एक दिन चढ़ती जवानी की उमंगों में गर्वीले होकर मिष्टान्न खाए, मीठा, सुगन्ध और शीतल जल पान किए, मुलायम विस्तरों पर सोए और सुन्दर चिकने आसनों पर बैठे तथा खूब मौज उड़ाए, वड़े और छोटे सुवर्ण के हारों और मणियों से तथा नूपुर (पांवजेव) से अपने को सुशोभित किए, हाय ! प्राण-पखेरू उड़ने पर आज वे ही शरीर भूमि पर लोट रहे हैं ॥ ८६ ॥

अपि च—

और भी—

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः,
सद्बान्धवाः प्रणय-गर्भ-गिरश्च भृत्याः ।
गर्जन्ति दन्ति-निवहास्तरलास्तुरंगाः,
सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति ॥ ६० ॥

चित्त को चुराने वाली युवतियां, अनुकुल आचरण करने वाले अपने परिवार के लोग, अच्छे सगे-संवन्धी, प्रेम-पूर्वक मीठे बोलने वाले नौकर-चाकर, गरजते हुए हाथियों के झुण्ड और खूब वेग (चाल) वाले घोड़े, ये सब आँखें मुंद जाने (मरने) पर कुछ नहीं हैं ॥ ६० ॥

पुनरप्यस्मिन्संसारे कतिपयेऽज्ञाः सुखं मत्वा संतिष्ठन्ते, परं शोकचिन्तादुःखादिदोषपरिपूर्णेऽत्र संसारे किं किमपि सुखमस्ति ?

फिर भी इस संसार में कितने मूर्ख सुख मानकर रहते हैं, लेकिन शोक, चिन्ता, दुःख आदि दोषों से पूर्ण इस संसार में क्या कुछ भी सुख है ?

यतः—

क्योंकि—

दुःखं स्त्री-कुक्षि-मध्ये प्रथममिहभवे गर्भवासे नराणां,
वालत्वे चापि दुःखं मल-लुलित-वपुः स्त्रीपयःपानमिश्रम् ।
तारुण्ये चाऽपि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥ ६१ ॥

पुनरत्र वृद्धावस्थायां स्वार्थं विना स्ववल्लभास्तनयादयोऽप्यवज्ञां कुर्वन्ति, तदपि महत्कष्टमेव जनो भजति ।

फिर, यहां बुढ़ापा में अपना मतलब के बिना अपनी स्त्री और लड़के आदि भी अनादर करते हैं, वह भी महान् कष्ट ही है, जिसे लोग भोगते हैं ।

उक्तञ्च—

कहा भी है—

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गताः,
दृष्टिर्भ्रश्यति वर्द्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते,
धिक् कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥ ६४ ॥

शरीर सिकुड़ गया, चलने-फिरने की शक्ति भी बहुत कमजोर पड़ गई, दांत टूट गए, आंखों की रोशनी कम हो गई, बहरापन बढ़ने लगा और मुंह से लारें टपका पड़ती हैं, सगे-संबन्धी कहे हुए नहीं करते और स्त्री भी सेवा नहीं करती, ऐसे बुढ़ापा से पीड़ित पुरुषों को धिक्कार है! हाय! और इस से अधिक कष्ट क्या है कि उसे प्रायः पुत्र भी अनादर करता है ॥ ६४ ॥

ततो भो भव्यप्राणिनः ! यूयं भवभ्रमणहेतुं मिथ्यात्वभ्रमं परित्यजत ।

इसलिए, हे भव्य प्राणियो! तुम लोग संसार में जन्म-मरण लेने का कारण मिथ्यात्व-संदेह को छोड़ दो ।

यतः—

क्योंकि—

मिथ्यात्वं परमो रोगो, मिथ्यात्वं परमं विषम् ।
मिथ्यात्वं परमं शत्रु—मिथ्यात्वं परमं तमः ॥ ६५ ॥

मिथ्यात्व महान् रोग है, मिथ्यात्व महान् विष है, मिथ्यात्व भारी दुश्मन है और मिथ्यात्व घोर अन्धकार है ॥ ६५ ॥

अन्यच्च :—

और भी :—

द्वेषादिकर्मशत्रून्विजित्य शाश्वतीं मोक्षश्रीलीलामाप्नोति, एवं द्विविधो धर्मः पूर्वैः सुज्ञानिपुरुषोत्तमैः प्रतिपादितः। पापेन च दुःखमेव भवति, अतोऽधर्मं परित्यजत। ये खलु पापरागिणस्तेऽधमां गतिं यास्यन्ति। पुनर्ये पापिनस्ते दुःखनिलया भूत्वाऽनन्तकालं भवे भ्रमिष्यन्ति। अतएव ये भव्याः सम्यक् परीक्ष्य धर्ममाश्रयिष्यन्ति ते भवसागरतीरं लब्ध्वा शिवलक्ष्मीं वरिष्यन्त्येव यतः प्राणिनां धर्म एव सर्वसुखखनिः, धर्मेण हि सुरसम्पदो भवन्ति। अतो धरायां सारभूतं धर्मं ज्ञात्वा यथाविधि त्वरितं तं निषेवध्वम्।

ऐसे सम्यक्त्व (सच्चा धर्म) को अंगीकार कर और देव-गुरु-धर्मों को अच्छी तरह सेवा कर आप लोग परम सुख-शान्ति (मोक्ष) की साधना करें। विषय-वासना के विकारों को छोड़ कर अणुव्रत आदि बारह व्रतों को स्वीकार करें, क्योंकि यही रास्ता संसार से (जन्म-मरण आदि क्लेश से) छुटकारा पाने के लिए सीधा रास्ता है। फिर जो प्राणी प्रेम से पंच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) को अच्छी तरह निभाता है, वह संसार (जन्म-मरण-जनित-दुःख) को खत्म करके मोक्ष को प्राप्त होता है। और जिस सम्यक्त्व से प्राणी राग-द्वेष आदिक कर्म-शत्रु को जीत कर शाश्वती (निरन्तर रहनेवाली) मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त होता है। इसतरह उत्तम ज्ञान वाले पूर्वाचार्यों ने दो प्रकार के धर्म बतलाए हैं। और पाप से दुःख ही होता है, इसलिए, अधर्म को छोड़ दीजिए। जो कोई पाप के रागी हैं, वे नीच गति को जाते हैं और जो पापी हैं वे दुःखों के घर होकर बहुत समय तक संसार में भटकते रहेंगे और जो भव्य (श्रद्धालु धार्मिक) अच्छी तरह परीक्षा करके धर्म की शरण लेंगे, वे संसार-सागर को पार कर मोक्ष-लक्ष्मी को अवश्य वरेंगे, क्योंकि, प्राणियों के सारे सुखों की खान धर्म ही है, धर्म से दैवी-सम्पत्तियां होती हैं। इसलिए, पृथिवी में धर्म को सर्वश्रेष्ठ जानकर यथोचित रूप से शीघ्र सम्यक्त्व की सेवा करें।

यतः—

क्योंकि—

विलम्बो नैव कर्त्तव्यः, आयुर्याति दिने दिने।
न करोति यमः क्षान्तिं, धर्मस्य त्वरिता गतिः॥ ९९॥

दिन-दिन आयु क्षीण होती जा रही है, अतः सद्धर्म-आराधन में देर नहीं करनी चाहिए, मौत किसी को माफी नहीं देती, धर्म की गति शीघ्र शीघ्र होती है अतः धर्माचरण में शीघ्रता करनी चाहिए॥ ९९॥

पुनरनेकभययुतं भोगादिकं सर्वं परित्यज्य निर्भयं परमसारभूतं वैराग्यधर्ममेव भजध्वम्।

मूढस्तु दीर्घ - परलोक - पथ - प्रयाणे,
पाथेयमात्रमपि नैव च लात्यधन्यः ॥ १ ॥

प्रायः सभी लोग दूसरे दूर गांव में जब जाते हैं, तब, कुछ न कुछ रास्ता का खर्चा अवश्य लेकर जाते हैं, यह बात लोक में प्रसिद्ध है, किन्तु वहुत-से महा मूर्ख अभागे परलोक गमन रूपी लम्बी मुसाफिरी के लिए थोड़ा भी रास्ता-खर्चा (सद्धर्म-सम्यक्त्व-सम्यक् धर्म) नहीं ग्रहण करते ॥ १ ॥

ततो राज्ञा पृष्टम्-हे भगवन् ! मया पूर्वभवे किं कर्म कृतम् ? येन मे धर्मोऽत्र नाभीष्टो जातः, अनेन च सचिवेन कीदृशं कर्म कृतम् ? येनेदृशी महती समृद्धिः पदे पदे प्राप्ता। ततः केवली प्राह—हे राजन् ! युवयोः पूर्वभवसंबन्धिनिखिलवृत्तान्तो मया निगद्यते, अतः सावधानत्वेन श्रृणुताम्—युवां पूर्वभवे सुन्दरपुरन्दरनामानौ भ्रातरावेवाभवताम्। सुन्दरस्तु मिथ्यात्वमोहितत्वादज्ञानकष्टकर्ता तापसो जातस्तत्र वनस्पतिच्छेदनभेदनजलक्रीडादिदुष्कर्मणा पुनर्भृशं मिथ्यामतिसंगं प्राप्याज्ञानतपसा च सर्वाणीन्द्रियाणि वशीचकार। अङ्गारधानिकां शुष्कगोमयं वनफलपुष्पाणि मृत्तिकां विभूतिं च प्रत्यहमुपयुज्य जटाधरोऽवधूतोऽभूत्। ऊर्ध्ववाहुस्तथैवाधोमुखो भूत्वाऽज्ञानतपसा पंचाग्नीन् साधयति स्म। मौनमेव सदा रक्षति स्म, पुनर्भवान् केशांश्च वर्धयति स्म, कन्दमूलानि संभक्ष्य २ कायं कृशीकरोति स्म। षट्कायजीवान् विराधयति स्म, दया तु न कदाऽपि हृदये धारयति स्म. शौचधर्ममहर्निशं समाद्रियते स्म। एवं मिथ्यात्वानुबन्धिनीं पापक्रियां समाचरन्नायुषः क्षये मृत्वाऽज्ञानतपसोऽनुभावादयं त्वं पापबुद्धिनामा राजाऽभूः। पुनः पुरन्दरस्तु जैनसाधुसंगत्या तदुपदेशानुसारेण जिनप्रासादं कारयितुं प्रारंभं कृतवान्, अर्द्धनिष्पन्ने च जिनप्रासादे तेनैवंविधः संशयः कृतो यन्मया सहस्रशो द्रव्यव्ययं कृत्वा प्रासादं कारयितुं प्रारब्धमस्ति, परमेतन्निर्मापणेन मे किमपि फलं भविष्यति नवेति संशयकरणानन्तरं पुनस्तेन चिन्तितम्—हा ! मया व्यलीकं ध्यातम्, यतो:देवनिमित्तं कृतं कार्यं कदाऽपि निष्फलं न यातीति मे प्रासादनिर्माणफलं भविष्यत्येवेति विचिन्त्य तेन नैर्मल्यपूर्णभावेन तं जिनप्रासादं समाप्य ततः कस्यचिद् ज्ञानवतः सद्गुरोःसन्निधौ महोत्सवपूर्वकं वहुद्रव्यव्ययेन सांजनशलाकां प्रतिष्ठां विधाय जिनबिम्बानि स्थापितानि। तथैवान्यमपि श्रीजैनधर्मोन्नतिजिनप्रासादबिम्बप्रतिष्ठातीर्थयात्रागुरुभक्तिसाधर्मिकवात्सल्यपौषधशालानेकदीनदानादिवहुविधं धर्मं कृत्वा, ततोऽन्ते निजायुषःक्षये स पुरन्दरजीवस्तु सुखसमा-

तुम्हारा सम्पत्तिशाली मंत्री हुआ। इसीतरह जिसने यहां जैसा कर्म किया है, उसे वैसे ही फल मिलते हैं। अव, हे राजन्! जिन-दीक्षा लेकर, अच्छी तपस्या के द्वारा केवलज्ञान को प्राप्त कर इसी जन्म में तुम दोनों मोक्ष को जाओगे। इसलिए, रोग-शोक आदि वद-नशीवी को दूर करने वाला संसार के दुःखों का विनाश करनेवाला परम-आनन्द-दायक वास्तविक-धर्म को मोक्ष के अभिलाषी प्राणियों को सर्वदा हर्षपूर्वक करना चाहिए।

यतः—

क्योंकि—

दीपो हन्ति तमःस्तोमं, रसो रोगमहाभरम्।
सुधाबिन्दुर्विषावेगं, धर्मः पापभरं तथा ॥ २ ॥

दीप भारी अँधेरे को नष्ट कर डालता है, रस (महामृत्युंजय-मकरध्वज आदि) बड़े बड़े रोगों को नेस्त-नावूद कर देता है, जहर की वेजोड़ असर को अमृत की बूंद गायब कर देती है, उसी तरह पाप की ढेर को धर्म विनाश कर ढालता है ॥ २ ॥

सर्वाणि परमप्रभुतास्पदानि स्वर्गस्थानं शिवं सौभाग्यं चैतत्सर्वं भो भूपाल! प्राणिना धर्मप्रसादेनैव लभ्यते। इत्थं केवलिनोपदिष्टं भववैराग्यजनकं स्वपूर्वभवं द्वावपि राजमन्त्रिणौ श्रुत्वा सुश्रावकद्वादशव्रतान्यंगीकृत्य तं केवलिनं सम्यक् शिरसाभिनम्य परावृत्तौ, तदनु भव्याङ्गिनामुपकाराय स्वपदाम्बुजन्यासैर्भूतलमलंकर्तुं केवल्यप्यन्यत्र विजहार।

हे राजन्! सभी बड़े बड़े शक्तियों के स्थान, स्वर्ग, मोक्ष और खूब अच्छा भाग्य-नशीव, ये सब लोगों-को धर्म के प्रसाद से प्राप्त होते हैं। इसतरह केवली मुनि के द्वारा कहे हुए संसार से वैराग्य करने वाले अपने पूर्व-जन्म को राजा और मंत्री दोनों सुनकर अच्छे श्रावक के योग्य बारह व्रतों को स्वीकार कर उस केवली महाराज को अच्छी तरह मस्तक नवा कर लौट आए। उसके पीछे भव्य प्राणियों के उपकार के लिए अपने चरण कमलों को रखने से भूतल सुशोभित करने के लिए केवली भी दूसरी जगह विहार करने लगे।

अथ राजा प्रधानश्च द्वावपि केवलिसमीपे गृहीतान् द्वादशव्रतान् निरतिचारं पालयन्तौ न्यायपूर्वकं राज्यं च कुर्वन्तौ सुखेन बहुकालं गमयतः स्म। अथान्यदा कस्यचिद् ज्ञानिगुरोः

अधिक क्या ! सभी प्राणियों की सारी मनःकामनाएँ पुण्य (सद्धर्म) से ही पूरी होती हैं ; अतः, मिथ्यात्व को और सांसारिक सारे शोक को छोड़ कर हृदय में सन्तोष रख कर सारे मनोवाञ्छित को देने वाले पुण्य (सद्धर्म) किया करो।

उक्तञ्च—

कहा भी है—

रम्येषु वस्तुषु मनोहरतां गतेषु,
रे चित्त ! खेदमुपयासि किमत्र चित्रम् ?
पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवाऽस्ति वाञ्छा,
पुण्यैर्विना नहि भवन्ति समीहितार्थाः ॥ ४ ॥

रे मन ! चित्त को चुराने वाली सुन्दर-चीजों को देख कर (और उसे नहीं पाकर) तुम दुःख पाते हो, तो इस में आश्चर्य क्या ? दुःख होना ही चाहिए, मगर यदि उन सुन्दर-सुन्दर चीजों को पाने के लिए तुम्हारी इच्छा है, तो पुण्य किया करो, क्योंकि, पुण्यों के बिना मुरादें पूरी नहीं होतीं ॥ ४ ॥

पूर्वं संकुचिता बहु-त्रुटि-गता या साऽन्यशास्त्रव्रजैः,
सद्युक्त्या निजया च पूर्वरचितै रासोद्भवैर्वर्णकैः ।
संगृह्यात्र विवर्द्धिता विजयराजेन्द्रेण गच्छाधिपे—
नेयं कामघटस्य भव्यजनताबोधाप्तये सत्कथा ॥ ५ ॥

पहले यह "कामघट-कथानक" नाम का ग्रन्थ संकुचित (संक्षिप्त-छोटा) रूप में था और इस में कई त्रुटियां थीं, उसको गच्छाधिपति श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वर ने पूर्वाचार्य रचित प्रासंगिक समुपयुक्त सुन्दर शब्द-अर्थ-विभूषित अन्य शास्त्रों से और अपनी अच्छी युक्ति से संग्रह (इकट्ठा) करके भावुक-जनता के बोध के लिए, विशेष रूप में बढ़ाया ॥ ५ ॥

दीपविजयमुनिनाऽहं, गुलाबविजयेन शिष्ययुगलेन ।
विज्ञप्तो व्यतानिषं, कामघटकथामिमां रम्याम् ॥ ६ ॥

सीता का पति प्रेम ।

क्या आप—

आदर्श दाम्पत्य जगत के लिये सर्वश्रेष्ठ उपादेय और दो विभिन्न गुण कर्म स्वभावादिसम्पन्न आत्माओं का अन्तःकरण से अनुराग राग में रंजित कर पारस्परिक हस्त-मिलन करके आजन्म के लिये मैत्राचार का पालन करनेवाली, दाम्पत्य जीवन में अडिग भाव से दृढ़तापूर्वक कर्तव्य पथ पर बढ़ती हुई दो सौभाग्य-शील-शाली आदर्श आत्माओं के सम्मेलन करना चाहते हैं ?

क्या आप शुद्ध और सात्विक दाम्पत्य प्रेम का रसास्वादन और आनन्दानुभव करना चाहते हैं ?

आप मानव हृदय की कोमलता, सरसता और कारुण्यपरता की सरिता (नदी) में गोता लगा कर संयोग और वियोग की अट्टालिका पर चढ़ कर सुख और दुःख में "समता" का आनन्दानुभव करना चाहते हैं क्या ?

तो

आर्य संस्कृति, सभ्यता और वेश भूषा का प्रतीक, भारतीय शिक्षा दीक्षा का निदर्शक, मानव और मानव समाज की शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास पर अग्रसर करने वाला, मानव-जीवन-संग्राम में "दाम्पत्य-जीवन" की सर्व श्रेष्ठता का आदर्श प्रदर्शन करने वाला, नारी संसार में भारतीय-हिन्दू-महिलाओं, ललनाओं द्वारा तहलका मचा देने वाला, कर्तव्य पथ का ज्ञान करा देने वाला, अर्वाचीन कालीन "दाम्पत्य जीवन" की शुष्कता को सरसता में ओत-प्रोत करने का मार्ग प्रदर्शन करने वाला "भारत-गौरव-ग्रन्थमाला" में प्रकाशित होने वाले श्रीयुत इन्द्रचन्द्र नाहटा द्वारा लिखित "सीता का पति प्रेम" को अवश्य ही अवलोकन (अध्ययन) कीजिये ।

२, चर्च लेन, कलकत्ता ।
मार्गशीर्ष पूर्णिमा,
१० डिसेम्बर, १९५४ ।

निवेदक—
नागरी साहित्य संघ ।

अथ मन्त्रिणा देवकुले मुक्ता या स्वपत्नी विनयसुन्दरी सा निजभर्तृप्रवासगमनकालादारभ्य तत्रैवासीना तदागमनमार्गं प्रपश्यन्त्येवं विचारयति स्म—अहो! केन हेतुना मे स्वामी मामेकाकिनीं मुक्त्वाऽधुनावधि नो समायातः। लोके ये खगा अपि वने स्वजीविकार्थमगच्छन्, तेऽपि कृत्वोदरपूर्तिं स्वेनैव मनसा स्वस्वस्थाने प्रत्यायान्ति, पुनर्मे पतिस्तु दानार्थं गतोऽधुनापि न समायातः। अतो रे हृदय! यदि त्वं स्वामिनि सम्पूर्णतया निजप्रेम रक्षसि तर्हि तद्विरहे कथं विनाशं नाधिगच्छसि? पतिसमीपावस्थानमेव पतिव्रतानां पतिव्रतात्वं, अन्यथा तासां विनाश एव नैव लोके कुत्रापि शोभा च।

अब मंत्रीने जो अपनी स्त्री विनय सुन्दरी देवकुल में छोड़ रखी थी वह (विनय सुन्दरी) अपने पति (मंत्री) के परदेश जाने के समय से लेकर तबतक वहीं बैठी हुई उसके आने की बाट को जोहती हुई इसतरह विचारने लगी—हाय, किस कारण, मेरे पति मुझे अकेली छोड़कर अभीतक नहीं आये! संसार में जो पक्षी भी अपनी जीविका के लिए वन में जाते हैं, वे भी अपना पेट भर कर अपने ही अपने अपने स्थान पर आजाते हैं, फिर पति तो दान के लिए गए अभीतक भी नहीं आए। इसलिए रे मन, यदि तुम अपने पति में पूरी तरह अपना प्रेम रखते हो तो उसके वियोग में क्यों नहीं विनाश हो जाते? क्योंकि पतिव्रताओं का पातिव्रत धर्म पति के पास रहने में ही है, अन्यथा उनका विनाश ही है और लोक में कहीं भी शोभा नहीं है।

यतः—

क्योंकि—

राजा कुलवधूर्विप्रा, नियोगी मन्त्रिणस्तथा।
स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते, दन्ताः केशा नखा नराः॥ १०॥

राजा, अच्छे कुल की स्त्री, ब्राह्मण, नियोग करने वाला और मंत्री तथा दांत, केश, नाखून और आदमी अपने स्थान से हटाए गए शोभा नहीं पाते हैं॥ १०॥

पुनश्चित्त! तद्विरहे स्वस्थेन त्वया कथमहं लज्जावती क्रिये? एतेन तु व्याघ्री समागत्य यदि मां भक्षयेत्तदा वरं, एतदेवानुपमेयमौषधं मद्दुःखहरणाय भवतु। एवं विविधरीत्या पौनःपुन्येन स्वकर्मणो दोषान्निष्कास्य तदैकाकिन्येव सा वराकी निजाज्ञानवशेन पूर्वदुष्कृतकर्माणि निनिन्द।

अनेक प्रकार से विलाप कर वह उसी बगीची में पति के चले जाने के दुःख को स्मरण करने लगी। और भी हाय, मेरे माता पिता कहां? और मैं कहां? मैं जहां जहां नजर डालती हूं, वहां सभी जगह पति का अभाव ही देखती हूं। हा प्राणनाथ, हर समय तुम्हारे मुख-कमल को याद करती हुई मेरी आंखें मेघ रूप होकर जल धारा की तरह आंसू की धारा छोड़ रही हैं। हे पतिदेव, तेरे विना कौन जंगल समान इस वगीची में मुझे सायंकाल में स्थान देगा?। और दूसरी बात यह कि—तुम्हारे विना मैं अपना शीलव्रत की रक्षा कैसे करूंगी? वहुत क्या कहूं, क्या करूं? हे पतिदेव, तुम्हारे विना मुझे चारों तरफ कुछ भी नहीं दिखाई देता? मैं विना शोभा वाली और विना विचार वाली हो गई हूं। वह इसतरह अनेक प्रकार खूब चिल्ला चिल्ला कर रो कर और उठकर आखें इधर उधर घुमाकर देखने लगी। फिर कहीं भी पति को अपनी ओर नहीं आते देख अत्यन्त उदासीन होती हुई वहां से उठ चली। अपना पति को ढूंढ़ती हुई वगीची के नजदीक एक कुम्हार को देखा, फिर उसके पास जाकर वह नव युवती पहचान कराने वाली दीनताभरी कोमल वाणी से उसको कहने लगी—हे भाई, तुम मुझे अपनी वहन की तरह मानो तो दूसरे देश की रहने वाली मैं तुम्हें कुछ अपनी दुखभरी बात सुनाऊँ।

अथ दयालुरतिसज्जनः कुम्भकारोऽपि दयां विधाय प्रत्यवोचत्—हे स्वसः! यत्त्वदुःखं भवेत्तन्निवेदय, मया त्वं स्वसृत्वेनांगीकृताऽसि। तन्निशम्य सा प्राह—हे भ्रातर्महानुभाव! शृणु, मामत्रस्थां मुक्त्वा मे पतिः क्वापि दानग्रहणाय गतोऽस्ति, स चाधुनापर्यन्तं मत्समीपे नो समागतः, तस्य बहुवेला व्यतिगता। अथाहं निर्नाथा क्व गच्छामीति विचार्य, अन्यत्र कुत्राप्याधारभूतं त्वत्समानमन्यजनमलभमाना त्वदन्तिके समागमम्। हे प्रिय बान्धव! अतःपरं त्वमेव ममाधार-भूतः शरणभूतश्चासि नान्यः कोऽपि। अथ हे करुणासागर! ममोपर्यनुग्रहं विधाय मामाज्ञापय यदहं पत्यागमनावधि त्वद्गृहे निवासं कुर्याम्।

अनन्तर दयालु, अत्यन्त सज्जन कुंभकार (कुम्हार) भी दया करके वोला—हे वहिन, जो तुम्हारा दुःख है, वह अच्छी तरह कहो, मैंने तुझे अपनी वहन स्वीकार कर लिया। यह सुनकर वह वोलने लगी—हे मान्यवर भाई, सुनो—मेरा पति मुझे यहां छोड़कर कहीं दान लेने के लिए गया हुआ है और वह अभीतक मेरे पास नहीं आया, उसको वहुत देर हो गई। अव, मैं पति के विना कहां जाऊं? यह विचार कर, कहीं दूसरी जगह तुम्हारे समान किसी दूसरे व्यक्ति को सहारा नहीं पाती हुई तुम्हारे समीप आई हूं। हे प्यारे भाई, अव इसके आगे—तुम ही मेरा सहारा हो और रक्षक हो, दूसरा कोई भी नहीं। हे दया सागर! अव, मेरे ऊपर दया करके मुझे आज्ञा दो कि मैं अपने पति के आने तक तुम्हारे घर में रहूं।

एवंविधानि स दुःखप्रलापितानि विनयसुन्दरी-वचनान्याकर्ण्य दयार्द्रचेतसा परोपकारिणा

लज्जा दया दमो धैर्यं, पुरुषालाप-वर्जनम् ।
एकाकित्व-परित्यागो, नारीणां शील-रक्षणम् ॥ ११ ॥

लज्जा, दया, इन्द्रियों की रोक-थाम, धैर्य धारण करना, अन्य पुरुष के साथ विशेष बातचीत को त्याग देना, अकेलीपन का त्याग ये स्त्रियों के शील रक्षक होते हैं ॥ ११ ॥

एवं कुर्वती तत्र कुलालगृहे सुखेन निवसति स्म। इतः स मन्त्री तेन व्यवहारिणा सह सुखेन रत्नद्वीपं गतः। तत्र सुरपुरनाम नगरं पुरन्दराभिधश्च राजा राज्यं शास्ति स्म। अथ तेन व्यवहारिणा स्वप्रवहणेभ्यः सर्वक्रयाणकान्युत्तार्य वक्षरेषु निक्षिप्तानि। तेषां क्रयविक्रयादिः सर्वो व्यवसायस्तेन श्रेष्ठिना मन्त्रिणे समर्पितः, तेन स मन्त्री तत्र सर्वव्यवसायं करोति स्म। सागरदत्तो व्यवहारी तु नगरान्तः स्थितः गणिकायामासक्तोऽजनि, तस्या गृहे स सागरदत्तो व्यवहारी तस्यां मुग्धमनाः निरन्तरन्तया सार्द्धमभिनवान् भोगाननुबभूव। अतः सूर्यस्योदयास्तावपि न जानाति स्म। शास्त्रेऽप्युक्तं यैर्निजशीलरत्नं विलुप्तं तैर्धनादिजन्मसमस्तं हारितम्।

इसतरह करती हुई वह उस कुंभार के घर में सुख से रहने लगी। इधर वह मंत्री उस सेठ के साथ सुख से रत्नद्वीप में गया। वहां सुरपुर नाम का नगर था और पुरंदर नाम का राजा राज्य करता था। अब उसने अपनी नाव (जहाज) से सभी वस्तुओं को उतार कर वखारों में डाल दिया। उन वस्तुओं के खरीदने और बेचने का सब हक उसने मंत्री को सौंप दिया। इसलिए वह मंत्री वहां सब व्यापार करने लगा और सागरदत्त सेठ उस नगर में रहने वाली वेश्या में आसक्त हो गया। वह सागरदत्त सेठ उस वेश्या के घर में रहता हुआ उस (वेश्या) में मोहित होकर हमेशा उसके साथ नये नये भोग-विलासों का अनुभव करने लगा, इसलिए, सूर्य का उगना और डूबना भी नहीं जानता था। शास्त्र में भी कहा है कि—जिसने अपना शील (ब्रह्मचर्य, सदाचार) रूपी रत्न को गमा दिया उसने धन आदि सारा जीवन हार चुका।

यतः—

क्योंकि—

दत्तस्तेन जगत्यकीर्ति-पटहो गोत्रे मषी-कूर्चक—
श्चारित्रस्य जलांजलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ।

कर डालते थे। जैसे शराब पीने वाला कुल की लाज और मर्यादा (इज्जत) आदि को नहीं गिन कर अपने देह की सूध भी (भूल) जाता है उसी तरह वह सेठ भी विषय रूपी मद से अंधा हो गया।

यतः—

क्योंकि—

यौवनं धन-सम्पत्तिः, प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय, किं पुनस्तच्चतुष्टयम् ॥ १४ ॥

जवानी, धन-दौलत, प्रभुता और बेवकूफी, ये एक एक भी दुनियां में बरबाद करने वाले हैं, फिर जहां ये चारों इकट्ठे हों वहां क्या कहना ? ॥ १४ ॥

पूर्वमहर्षिभिर्विद्वद्भिरपि स्त्रीदेहमुद्दिश्य धर्मशास्त्रे नीतिशास्त्रेऽपि च सर्वेषां बन्धनरूपं भणितमस्ति।

प्राचीन महर्षियों और विद्वानों ने भी स्त्री देह (कामिनी) को लक्ष्य में लाकर धर्मशास्त्र और नीति शास्त्र में भी सब के लिए बन्धन रूप कहा है :—

यथा—

जैसे :—

संसारे हयविहिणा, महिलारूवेण मंडियं पासं।
वज्झंति जत्थ मुद्धा, जाणमाणा अजाणमाणा वि ॥ १५ ॥

(संस्कृत छाया)

संसारे हत-विधिना महिला-रूपेण मण्डितः पाशः।
बध्यंते यत्र मुग्धा ज्ञायमाना अज्ञायमाना अपि ॥ १५ ॥

बदतमीज ब्रह्माने—या बदनसीबीने इस संसार में कामिनी रूप पाश (जाल) को फैला दिया जिस जाल में मोह को प्राप्त हुए व्यक्ति जानते हुए और नहीं जानते हुए भी बंध (फँस) जाते हैं ॥ १५ ॥

नोट—ध्यान रहे कि दूरदर्शी ऋषियों, मुनियों, ज्ञानियों और पूर्वाचार्योंने मदमाती, मर्यादाहीना कामिनी को ही महिला रूप पाश कहा है, नकि धर्मपरायणा पतिव्रता सच्चरित्रा सती-शिरोमणि सीता, सावित्री आदि आदर्श नारी को, बल्कि इन भारतीय आदर्श-ललनाओं के समान पतिव्रता सच्चरित्राओं को तो उन्होंने मानव के ऐहिक पारलौकिक सुख प्राप्ति में परिपूर्ण सहायिका मानी है। विशेष जिज्ञासा की संतृप्ति के लिए, हमारी "सीता का पति-प्रेम" नामक पुस्तक देखें।

धिकारी वर्तते, स यदि केनचिदप्युपायेनास्माकं गृहे समागच्छेत्तर्हि स मुख्यत्वान्मे वहुधनं दत्त्वा सम्यक् सन्तोषयेद् नूतस्नेहत्वादिति विचिंत्य तन्मनश्चालनाय सा षोडशशृङ्गारान् व्यधात् ।

इसतरह वह सेठ विषय में फंसा हुआ वहुत धन वरबाद करता हुआ वेश्या के घर में रहता था। अनन्तर एक समय वह वेश्या अपने मन में ऐसा विचार करने लगी—कि—यदि इस सेठ का मुनीम धर्मवुद्धि नाम का जो सभी व्यापारों का अधिकारी (मालिक) है वह किसी उपाय से मेरे घर पर आता तो वह मुखिया (व्यापार का प्रधान) होने से मुझे वहुत धन देकर नया-स्नेह होने के कारण अच्छी तरह संतुष्ट करता, यह विचार कर उस मंत्री (मुनीम) के मन को चलायमान करने (लुभाने) के लिए वह वेश्या सोलह-शृङ्गारों को सजने लगी—

यथा—

जैसे :—

आदौ मज्जन-चारु-चीर-तिलकं नेत्रांजनं कुण्डलं,
नासा-मौक्तिक-हार-पुष्प-निकरं झंकारवन्नूपुरम् ।
अंगे चन्दन-चर्चितं कुच-मणिः क्षुद्रावली घंटिका,
ताम्बूलं कर-कंकणं चतुरता शृङ्गारकाः षोडश ॥ १८ ॥

प्रथम अच्छी तरह स्नान करना, फिर उत्तम कपड़ा पहनना, तिलक (कपाल में विन्दी) करना, आखों में काजल करना, कानों में कुण्डल पहनना, नाक में नासामणि (वुलकी) धारण करना, गले में हार, माथा के जूड़े (केस वन्ध) पर फूलों के गुच्छे लगाना, पैरों में नूपुर (पांवजेव-पायल) पहनना, अंग में चन्दन का लेप करना, कुचमणि (स्तनों को ऊंचे-खड़े रखने का वस्तुविशेष-या वस्त्र विशेष-चूचकस) धारण करना, करधनी धारण करना, घंटिका-कमर कस धारण करना, पान खाना, हाथों में कंगन पहनना और वोलने में चतुराई-निपुणता (कोमल-मीठी-मुस्कुराहट के साथ वोलना) ये सोलह शृङ्गार कामिनियों के हैं ॥ १८ ॥

एभिः शोभनशृङ्गारैः स्वदेहं साक्षात्स्वर्वेश्येव विधाय कपटनाट्यैकपटुः कट्या सिंहं, वेण्या शेषनागं, मुखेन मृगांकं, गत्या गजं, अक्ष्णा मृगीं, स्वसुन्दररूपेण रतिञ्च पराजयमाना, परितः कटाक्षवाणान् विक्षिपन्ती, भ्रमरावलीसमालका भ्रूधरा कामुकजनप्राणान् कामबाणेन विध्यन्ती स्वर्णरेखाशोभितदन्तावलिका कृतवक्रमुखी करशाखायां परिहितमुद्रिकां मुहुर्मुहुः प्रपश्यन्ती,

अथ नृत्यपूर्वकं हावभावादिविषयासक्तं युवकगणं कुर्वतीं तां गणिकां प्रति सद्गुणसमुद्रो मन्त्री जगाद्—अये विरूपभाषाभाषिणि! कथमेवं प्रलपसि? त्वं केनाहूतासि? उन्मत्तेव वारम्वारं किमर्थमसमंजसं भाषसे? हे दुष्टालापिनि! त्वमत्र मा किमपि वद, नाहं त्वया साकं समागमिष्यामि, नैव च कदापि त्वां सेविष्ये।

फिर नाच करती हुई हाव-भाव आदि से युवक जनों को विषय में आसक्त करती हुई उस वेश्या के प्रति अच्छे गुणों का समुद्र मंत्री बोला—अरी, खराव बात वोलने वाली, तुम इसतरह क्यों वकती हो? तुम्हें किसने बुलाया है? तुम पगली की तरह वार वार क्यों अनुचित वोल रही हो? हे विषैले आखों वाली, हे दुष्ट-आलाप करने वाली, तुम यहां कुछ भी मत वोलो, मैं तेरे साथ नहीं आसकूंगा, न कुछ भी कहूंगा और कभी भी तुम्हें नहीं सेवूंगा।

यतः—

क्योंकि—

कश्चुम्बति कुल-पुरुषः, वेश्याधर-पल्लवं मनोज्ञमपि।
चार-भट-चौर-चेटक — नट-विट-निष्ठीवन-शरावम्॥ २०॥

कौन कुलीन पुरुष सुन्दर भी वेश्या के अधर-पल्लव (होठ) को चुम्बन करता है? अर्थात् कोई नहीं, कारण कि वेश्या का होठ—नौकर-चाकर, भांट-भिखार, चोर-डाकू नट और जारों के थूक का प्याला है॥ २०॥

या विचित्र-विट-कोटि-निघृष्टा, मद्य-मांस-निरतातिनिकृष्टा।
कोमला वचसि चेतसि दुष्टा, तां भजन्ति गणिकां न विशिष्टाः॥ २१॥

जो रंग-विरंग के करोड़ों जारों द्वारा वार वार भोगी गई और शराव तथा मांस खाने वाली अत्यन्त अपवित्र है तथा वाणी में कोमलता और मन में क्रूरता से भरी है, ऐसी उस वेश्या को विशिष्ट (अच्छे, भले) व्यक्ति कभी नहीं सेवते॥ २१॥

अपि च—

और भी—

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जरा-जीर्णाखिलांगाय च,
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च।

स्त्री के साथ व्याभिचार किया जाता है, उसका परिणाम स्वरूप उन्हें एक्कीस बार सातवां नरक का दुःख भोगना ही पड़ता है।

यदुक्तं—

कहा भी है—

तस्माद्धर्मार्थिभिस्त्याज्यं, परदारोपसेवनम् ।
नयन्ति परदारास्तु, नरकानेकविंशतिम् ॥ २३ ॥

इस लिए धर्म की इच्छा वालों को पराई स्त्री के साथ मैथुन (व्यभिचार) छोड़ देना चाहिए, क्योंकि, पराई स्त्री के साथ मैथुन एक्कीस बार कठोर नरक में ले जाता है ॥ २३ ॥

तथा च युधिष्ठिरं प्रति भीष्मः—

और इसीतरह महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति पितामह भीष्म का उपदेश है :—

नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यथा हि पुरुषव्याघ्र ! परदारोपसेवनम् ॥

हे नर शार्दूल ! दूसरे की स्त्री के साथ मैथुन (व्यभिचार) जिस तरह शीघ्र आयुष्य को नष्ट कर डालता है, उस तरह आयु को नष्ट करने वाला इस संसार में कोई भी कुकर्म नहीं है॥

अपि च—

और भी—

भक्खणे देव-दव्वस्स, परत्थी-गमणेण य ।
सत्तमं नरयं इंति, सत्तवाराओ गोयमा ! ॥ २४ ॥

(संस्कृत छाया)—

भक्षणे देवद्रव्यस्य परस्त्री गमनेन च ।
सप्तमं नरकं यान्ति सप्तवारं हि गौतम ! ॥ २४ ॥

भगवान् महावीर कहते हैं कि हे गौतम, देवद्रव्य के हड़पने में और पर स्त्री के साथ मैथुन करने से सातवां नरक में सात बार जाना पड़ता है ॥ २५ ॥

सुविशुद्ध-शीलयुक्तः प्राप्नोति कीर्तिं यशश्च इहलोके ।
सर्व-जन-वल्लभश्चैव शुभ-गति-भागी च परलोके ॥ २६ ॥

अखण्ड ब्रह्मचारी इस लोक में यश-प्रतिष्ठा और कीर्त्ति को प्राप्त करता है और सब का प्रिय होकर परलोक में मोक्ष का भागी होता है ॥ २६ ॥

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥ २७ ॥

देव-दानव-गंधर्वा यक्ष-राक्षस-किन्नराः ।
ब्रह्मचारिणं नमस्यंति दुष्करं यत् कुर्वन्ति तत् ॥ २७ ॥

जिस लिए, ब्रह्मचारी अत्यन्त दुष्कर (कठिन) ब्रह्मचर्य व्रत (तपस्या) करते हैं, इस लिए ब्रह्मचारी को देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर (देवयोनि के लोग) भी वन्दना करते हैं ॥ २७ ॥

अपि च—

और भी—

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्,
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरंगायते ।
व्यालो माल्यगणायते विष-रसः पीयूषवर्षायते
यस्यांगेऽखिल-लोक-वल्लभ-तमं शीलं समुन्मीलति ॥ २८ ॥

जिस व्यक्ति के शरीर में समस्त लोक का अत्यन्त प्रिय शील (ब्रह्मचर्य) चमकता है, उसके (ब्रह्मचर्य के) प्रताप से अग्नि जल के जैसी हो जाती है, समुद्र एक छोटी क्यारी का जैसा, मेरु पर्वत छोटी शिला की तरह, शेर हरिण की तरह, सर्प माला की तरह और विष अमृत की तरह हो जाता है ॥ २८ ॥

अथैकदा राज्ञा तन्नगरे तटाकं खानयितुं प्रारब्धम् । ततः कियद्दिवसैर्लिखितताम्रपत्राणि निःसृतानि, जनैश्च राज्ञे समर्पितानि । राज्ञापि तत्र लिखितलेखपरिवाचनाय तानि पण्डितेभ्यः समर्पितानि, किन्तु तत्र लिप्यन्तरसद्भावात्कोऽपि तानि वाचयितुं न शक्नोति स्म । तदा कौतुकप्रियेण राज्ञा पटहो वादितो यथा—यः कोऽप्यमून्यक्षराणि वाचयिष्यति तस्य राजा स्वीय-कन्यामर्द्धराज्यं च दास्यतीति वाद्यमानः पटहः क्रमेण मन्त्रिगृहसमीपमागतस्तदा मन्त्रिणा स

रूप-यौवन-सम्पन्ना, विशाल-कुल-सम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३० ॥

अच्छे कुल में उत्पन्न, सौन्दर्य और युवा अवस्था से युक्त भी व्यक्ति विद्या से हीन उस तरह नहीं शोभा पाते हैं जैसे किंशुक (ढाक-पलास) के फूल खूबसूरत होने पर भी गन्ध रहित होने से शोभा नहीं पाते ॥ ३० ॥

वरं दरिद्रोऽपि विचक्षणो नरो, नैवार्थयुक्तोऽपि सुशास्त्र-वर्जितः ।
विचक्षणः कार्पटिकोऽपि शोभते, न चापि मूर्खः कनकैरलंकृतः ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान् दरिद्र भी अच्छा, लेकिन मूर्ख धनी भी अच्छा नहीं, क्योंकि, चतुर कार्पटिक भी शोभा पाता है परन्तु सुवर्ण से अलंकृत भी मूर्ख नहीं शोभता ॥ ३१ ॥

अपि च—

और भी—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धु-जनो विदेश-गमने विद्या परं दैवतं,
विद्या राजसु पूजिता नहि धनं विद्या-विहीनः पशुः ॥ ३२ ॥

विद्या, मनुष्य का बहुत बड़ा रूप है, सुरक्षित गुप्त धन है, विद्या भोग (सुख) देती है और यश-कीर्ति फैलाती है, विद्या गुरुओं का भी गुरु है। परदेश में विद्या सगे-संबन्धियों के समान हो जाती है, विद्या सब से बड़ी देवता है, विद्या राजाओं में पूजी जाती है धन नहीं, विद्या से हीन मनुष्य (बिना सींग पूंछ का) पशु है ॥ ३२ ॥

हर्त्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति सर्वात्मना,
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं वृद्धिं परां गच्छति ।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं,
येषां तान्प्रति मानमुज्झत जनाः कस्तैः सह स्पर्धते ॥ ३३ ॥

मन्त्रिधनस्त्रीर्ष्यया ज्वलन् स्वदेशीयत्वात्केनचिज्जनेन मन्त्रिणमाकारयामास। यदा मन्त्रिणापि निजश्वशुराय राज्ञे प्रोक्तं यदहं यास्यामि स्वदेशं, तदा पुना राज्ञाऽप्यर्द्धराज्यमूल्यप्रमाणानि स्वर्ण-माणिक्यादिरत्नैर्भृत्वा ह्यष्टौ प्रवहणानि तस्य समर्पितानि। ततः समुद्रतटं यावद्राजा तं प्रेषयितुं समायातः, तत्र राज्ञा स्वसुता सुष्ठुशिक्षया शिक्षिता, तद्यथा—हे सुते! मदीयस्य जामातुश्च कुलस्य येन प्रकारेण शोभा भवेत्तेनैव प्रकारेण त्वया श्वश्रूश्वशुरयोर्ज्येष्ठतत्पत्न्योश्च सुविनयः करणीयः। भर्त्तुरुक्त्यनुसारेणैव समस्तं कार्यञ्च कर्त्तव्यं, अनुचरवर्गातिथिप्रभृतीनां यथायोग्य-मादरसम्मानौ च विधातव्यौ, सपत्न्या साकं स्वभगिनीतोऽप्यधिकतरप्रेम्णा वर्त्तितव्यं, किमहं बहूपदिशामि? तत्राखिलं शुभमेव विरचनीयमित्यादिकाः सुशिक्षाः सुतायै प्रदाय जामातरं च सम्यक् स्नेहेन संभाष्य संप्रेष्य च नृपः स्वस्थानमाजगाम। ततस्तौ मन्त्रिव्यवहारिणौ समुद्रमध्ये चलितौ। अथ स श्रेष्ठी मन्त्रिणो रत्नभृतानि प्रवहणानि रूपवतीं पत्नीं च दृष्ट्वा लोभदशां प्राप्तः सन् चिन्तयति स्म —अस्य मन्त्रिणः पत्न्यादिसर्वसंपत्तिर्ममैव चेत्स्यात्तर्हि जगति मन्ये स्वजन्म कृतार्थम्। अतिलोभित्वेन तेनैवंविधं दुष्ट-कर्म विचारितम्।

अब इस तरह (मंत्री) की धन-सम्पत्ति को देखकर सागरदत्त नाम का सेठ अपने मन में जलने लगा। उसके बाद वह सेठ अपना बाकी माल को बेचकर वहां के दूसरे मालों से जहाजों को भर कर पीछे मंत्री के धन-स्त्री की डाह से जलता हुआ स्वदेशीय होने से किसी आदमी के द्वारा मंत्री को बुलावा भेजा। जब, मंत्रीने भी अपना ससुर राजा को कहा कि—मैं अपना देश जाऊंगा, तब फिर राजाने भी अपने आधे राज्य के मूल्य बराबर सुवर्ण, रत्न-माणिक्य आदि से आठ जहाज भर कर उस (मंत्री) को दिया। फिर समुद्र के किनारेतक राजा उसको भेजने के लिए आया, वहां, राजाने अपनी लड़की को अच्छी शिक्षा दी, जैसे :—हे वत्से, मेरे और मेरे जमाई के कुल की शोभा जिसतरह हो सके उसी तरह तुमको सास और ससुर को, भैंसुर और जेठरानी को अच्छी तरह विनय करना और पति के कहे अनुसार ही सारे काम करना, एवं नौकर-चाकर और अतिथि आदिको जहांतक बन सके आदर और सम्मान करना, सौतिन के साथ अपनी बहिन से भी अधिक प्रेम से व्यवहार रखना, अधिक में क्या सिखावन दूं? वहां हर तरह से अच्छा ही करना, इत्यादि अच्छी सिखावन लड़की को देकर जमाई को भी अच्छी तरह प्रेम से समझा बुझाकर और भेजकर राजा अपना स्थान में लौट आया। तब मंत्री और सेठ समुद्र के बीच में चलने लगे। अब, वह सेठ मंत्री के रत्नों से भरे जहाजों को और सुन्दरी स्त्री को देख कर लोभ दशा को प्राप्त होकर विचारने लगा—कि—इस मंत्री की स्त्री आदि सारी संपत्ति मेरी ही यदि किसी तरह हो जाय तो मैं संसार में अपना जन्म सफल मानूं। अत्यन्त लोभ में आकर उसने ऐसा दुष्ट कर्म विचार किया।

हस्ते नरकपालं ते, मदिरा-मांस-भक्षिणि ! ।
भानुः पृच्छति मातङ्गीं, किं तोयं दक्षिणे करे ? ॥ ३८ ॥

भानु भंगिन से पूछता है कि—हे मदिरा-मांस-खानेवाली मातंगी ! तुम्हारे एक हाथ में मनुष्य का मुंड है और दाहिने हाथ में जल क्यों ? ॥ ३८ ॥

साऽऽह—

वह बोल उठी :—

मित्र-द्रोही कृतघ्नश्च, स्तेनो विश्वास-घातकः ।
कदाचिच्चलितो मार्गे, तेनेयं क्षिप्यते छटा ॥ ३९ ॥

मित्र का द्रोही, किए हुए को न मानने वाला, चोर और विश्वास घाती, कहीं इस रास्ते से चला हो, इस लिए ये छींटे छींटती हूं ॥ ३९ ॥

तथा च—

और भी—

पासा वेसा अग्नि जल, ठग ठक्कुर सोनार ।
ए दस होय न अप्पणा, दुज्जण सप्प विलार ॥ ४० ॥

पासा (जुआ), वेश्या, अग्नि, जल, ठग, ठाकुर, सोनार, दुर्जन, सांप और विलाड़ ए दश अपने नहीं होते अर्थात् इनका विश्वास कभी नहीं करना चाहिए ॥ ४० ॥

अथ कपटेनैनं चेन्मारयामि तदैतत्सर्वमपि मे स्वाधीनं भवेदिति विचार्य तेन मन्त्रिणा सहाधिका प्रीतिर्मण्डिता ।

अब, यदि छल करके इस को मारडालूं तो इसका सब कुछ (धन-स्त्री) मेरे अधीन हो जायगा, ऐसा विचार कर उस मंत्री के साथ अधिक प्रीति रच डाली —

यतः—

क्योंकि—

ददाति प्रतिगृह्णाति, गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुंक्ते भोजयते चैव, षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ ४१ ॥

की तरङ्गों की लीला को देखें तो सुन्दर है, मंत्रीने भी उसे स्वीकार कर लिया। अब, अवसर (समय-मौका) पाकर लोभ से ग्रसित उस पापी सागरदत्तने मंत्री को समुद्र में गिरा दिया। लेकिन मंत्रीने गिरते ही पंच परमेष्ठी-नमस्कार के स्मरण करने के प्रभाव (माहात्म्य) से फलक (पट्टी) पकड़ लिया—

यतः—

क्योंकि—

संग्राम - सागर - करीन्द्र - भुजङ्ग - सिंह—
दुर्व्याधि - वह्नि - रिपु - बन्धन - संभवानि।
चौर - ग्रह - भ्रम - निशाचर - शाकिनीनां
नश्यन्ति पञ्च - परमेष्ठि - पदैर्भयानि ॥ ४३ ॥

लड़ाई, समुद्र, गजराज, साँप, सिंह, महाव्याधि, अग्नि और शत्रु के वन्धन से उत्पन्न भय तथा चोर, ग्रह, भ्रान्ति, राक्षस और शाकिनियों के भय पंच परमेष्ठी पद के स्मरण मात्र से दूर भाग जाते हैं ॥ ४३ ॥

ततोऽनन्तरं सर्वाण्यपि प्रवहणानि त्वग्रतो गतानि। अथ स दुष्टो मायावी सागरदत्तोऽतीवोच्चस्वरेण पूत्कारं कुर्वन् कूटशोकं च विधाय विलपन्त्या राजपुत्र्याः पार्श्वे समागत्य मायया विलपन् सन्नुवाच—हे भद्रे चन्द्रवदने ! स मन्त्री तु भृशं दयादाक्षिण्यौदार्यगांभीर्यादिसद्गुणकलितोऽद्वितीयः परोपकारभारधुर्य उत्तमपुरुषश्चासीत् । अतएव मे मनस्यपि तद्वियोगजं महद्दुःखं भवति। अहमपि त्वदग्रे तद्दुःखं निवेदयितुमशक्योऽस्मि परं भवितव्यता तु पुण्यशालिनां महापुरुषाणामपि नो दूरीभवति।

उसके बाद सभी जहाज तो आगे चले गए और वह दुष्ट मायावी सागरदत्त खूब जोर से चिल्लाता हुआ बनावटी शोक रचकर रोती हुई राजपुत्री के पास जाकर कपट करके रोता हुआ बोला—हे चन्द्रमा के समान मुख वाली ! वे मंत्री तो बड़े ही दया-दाक्षिण्य, उदारता, गंभीरता आदि अच्छे गुणों से युक्त थे, अद्वितीय (बेजोड़-एकही) परोपकारी और उत्तम पुरुष थे। इसलिए, मेरे मन में भी उनके वियोग का दुःख है। मैं भी तुम्हारे सामने उस दुःख को कहने में असमर्थ हूं, लेकिन—होनहार पुण्यात्मा महापुरुषों से भी दूर नहीं होता—

यतः—

क्योंकि—

यदुक्तम्—

कहा भी है—

गते शोको न कर्त्तव्यो भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।
वर्तमानेन योगेन वर्त्तन्ते हि विचक्षणाः ॥ ४७ ॥

गए हुए का—बीते हुए का शोक नहीं करना चाहिए, भविष्य की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, बुद्धिमान लोग भूत-भविष्य को छोड़कर वर्त्तमान के अनुसार ही रहते हैं ॥ ४७ ॥

पुनरिमानि सद्गुणान्वितानि वस्तूनि यत्र यत्र गच्छन्ति तत्र तत्रादरमेव लभन्ते, ततस्त्वया कापि चिन्ता न विधेया ।

फिर ये अच्छे गुणों से युक्त वस्तुएँ जहां जहां जाती हैं वहां वहां आदर ही पाती हैं, इसलिए तुम्हें कोई भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए ।

यतः—

क्योंकि—

शूराश्च कृतविद्याश्च, रूपवत्यश्च याः स्त्रियः ।
यत्र यत्र हि गच्छन्ति, तत्र तत्र कृतादराः ॥ ४८ ॥

शूर, विद्वान् और रूपवती (खूब सूरत) स्त्रियां, ये जहां जहां जाते हैं, वहां वहां आदर-सम्मान पाते हैं ॥ ४८ ॥

हे सुभगे! तेन यदि त्वं मदुक्तं करिष्यसि तदाहं त्वां निजसर्वकुटुम्बस्वामिनीं करिष्यामि। तस्यैवंविधवचनतस्तया चतुरया ज्ञातम्—नूनमनेनैव दुरात्मना लोभाभिभूतत्वेन कामान्धत्वेन च मम स्वामी समुद्रमध्ये पातितोऽस्ति ।

हे सुन्दरी, इसलिए यदि तुम मेरे कही बात करोगी तो मैं तुमको अपने सारे परिवार की मलिकाइन बना दूंगा। उसकी इसतरह की बात से उस बुद्धिमतीने जाना—पक्का, इसी दुष्टने लोभ में आकर और काम-वासना में अन्धा होकर मेरे पति को समुद्र में गिरा दिया है ।

यदुक्तम्—

कहा भी है—

उसके वाद अपनी शील-रक्षा के लिए उसने कहा—अभी मुझे शोक है, इसलिए, नगर में जाने के वाद विचार करूंगी, इसतरह की उसकी वात से सागरदत्त सुखी हो गया। इधर सागरदत्त सेठ का जहाज तेज वायु से प्रेरित होकर गम्भीरपुर नगर में पहुंच गया। तबतक सौभाग्य सुन्दरी अपनी शील-रक्षा के लिए जहाज से उतर कर समीप में रहे हुए श्री ऋषभदेव भगवान् के मन्दिर में जाकर उनको विधिपूर्वक वन्दना करके और किवाड़ लगाकर रह गई और उसने कहा कि—यदि मेरा शील का (कुछ भी) माहात्म्य है तो मेरे पति के विना (किसी दूसरे से) ये दोनों कपाट नहीं उघड़े। फिर सागरदत्त भी उसके शील का प्रभाव से उसको वहीं भूल कर अपना घर चला गया। इधर धर्मवुद्धि मंत्रीने "नव-स्मरण" के माहात्म्य से फलक (पट्टी) को पकड़ कर धीरे धीरे समुद्र के किनारे आगया। क्योंकि, 'नवस्मरण' का फल शास्त्र में भी ऐसा ही कहा है—

यथा :—

जैसे :—

जिणासासणस्स सारो, चउदसपुव्वाण जो समुद्धारो।
जस्स मणे नमुक्कारो, संसारो तस्स किं कुणइ ? ॥ ५३ ॥

(संस्कृत छाया)—

जिनशासनस्य सारः चतुर्दशपूर्वाणां यः समुद्धारः।
यस्य मनसि नमस्कारः संसारः तस्य किं करोति ॥ ५३ ॥

पंच परमेष्ठी नमस्कार जिनशासन का सार है, चौदह पूर्वों का समुद्धार है, वह नमस्कार (मंत्र) जिसके मन में है, उसको संसार क्या कर सकता है ? ॥ ५३ ॥

नमस्कार मंत्र यह है—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

यह नमस्कार मंत्र अपूर्व कल्पवृक्ष है और यह अलौकिक चिन्तामणि है, जो इसको सर्वदा ध्यान करता है, वह परिपूर्ण सुख-शान्ति पाता है ॥ ५५ ॥

तथा च—

और इसीतरह—

नवकारिक अक्खरो, पावं फेडेइ सत्त अयराणं ।
पण्णासं च पएणं, पंचसयाइं समग्गेणं ॥ ५६ ॥

(संस्कृत छाया)—

नवकारस्यैकमक्षरं पापं स्फोटयति सप्त सागराणाम् ।
पञ्चाशच्च पदेन पञ्चशतानि समग्रेण ॥ ५६ ॥

नवकार का एक अक्षर सात सागरोपम पापों को नष्ट करता है और उसका एक पद पचास सागरोपम पापों को नष्ट करता है तथा सारा पद।पांच सौ सागरोपम पापों को नष्ट करता है॥ ५६ ॥

अन्यच्च—

और भी—

जो गुणइ लक्खमेगं, पूएइ विहिणा य नमुक्कारं ।
तित्थयरनामगोयं, सो बंधइ नत्थि संदेहो ॥ ५७ ॥

(संस्कृत छाया)—

यो गणयति लक्षमेकं पूजयति च विधिना नमस्कारम् ।
तीर्थंकर-नाम-गोत्रं स बध्नाति नास्ति सन्देहः ॥ ५७ ॥

जो विधिपूर्वक नमस्कार मंत्र को एक लाख जपता है और पूजता है, वह तीर्थंकर (जिनेश्वर) के नाम गोत्र को बांधता है अर्थात् तीर्थंकर होता है, इसमें शक (सन्देह) नहीं ॥ ५७ ॥

तथा च—

और भी—

अट्ठेव य अट्ठसया, अट्ठसहस्सं च अट्ठकोडीओ ।
जो गुणइ भत्तिजुत्तो, सो पावइ सासयं ठाणं ॥ ५८ ॥

मारय तर्हि सुष्ठुतरं भवेत् । ततस्तयोक्तम्—यदि योग्यं वरमहं लप्स्ये तदा तस्मै त्वां दास्यामि, हे सत्पुरुष ! पूर्वमहमेवं तया निगदिताऽस्मि । अथ सांप्रतं तदागमनवेलाऽस्ति सा च कदाचिन्मां तुभ्यं दद्यात्तदा त्वयाऽस्या राक्षस्याः पार्श्वादाकाशगामिनी विद्या, सप्रभावा खट्वा, महार्घ्यदिव्यरत्नग्रन्थी, सप्रभावे श्वेतरक्तकरवीरकंबिके चैतानि वस्तूनि मार्गणीयानि करमोचनावसरे, इति तदुक्तसंकेतं गृहीत्वा पुनस्तां कृष्णाञ्जनेनोष्ट्रिकां विधाय मन्त्री प्रच्छन्नः स्थितः । इतश्च मनुष्यं भक्षयामीति वदन्ती राक्षसी समागता, तया च श्वेताञ्जनेन सोष्ट्रिका कन्या चक्रे, ततस्तया राक्षस्या साकं वार्तां कुर्वत्या स्वयोग्यो वरो याचितः । तदा राक्षस्योक्तम्—क्वापि तव योग्यं वरं दृष्ट्वा तस्मै त्वां दास्यामि ।

अनन्तर वह मंत्री समुद्र के तट से आगे घूमता हुआ एक परम रमणीय नगर को दूर से देखा। फिर धीरे धीरे नगर में प्रवेश करता हुआ वह अनेक मणि, माणिक्य, रत्न, मूंगा, मोती और सुवर्ण आदि अनेक तरह के बिक्री के माल से परिपूर्ण दुकान की कतारों को और चंदोवा सहित मंदिर की कतारों को देखकर मन में अत्यन्त आश्चर्य से युक्त हुआ। साहसी मंत्रीने अकेला ही नगर के बीच में घूमता हुआ राजमन्दिर के सप्तमूमि ऊपर चला गया। वहां, खाट के ऊपर एक ऊँटनी को और उसी तरह वहां वह काला और उजला अंजन (काजल) से भरी दो कूपिकाओं को देखा। उसको देखकर अचंभे में पड़ा हुआ विनोद के साथ उजला अंजन से ऊँटनी के आखों में अंजन कर दिया। उस अंजन के प्रभाव से वह परम सुन्दरी नारी हो गई। उस समय ही उस सुन्दरीने उस मंत्री को (बैठने के लिए) आसन दिया। तब मंत्रीने उसको पूछा—हे चन्द्रमा समान मुख वाली, सुन्दरि, तुम कौन हो ? किस की लड़की हो ? तुम्हारी ऐसी दशा क्यों है ? यह नगर क्या है ? और किस कारण यह शून्य है ? यह सुनकर वह कन्या अपनी आखों से आंसू बहाती हुई बोली—हे पुरुष श्रेष्ठ ! तुम यहां से शीघ्र चले जाओ, क्योंकि,—यहां एक राक्षसी रहती है, वह यदि तुमको देख लेगी तो खा जायगी। तब मंत्रीने फिर पूछा—हे सुन्दरी, वह कौन राक्षसी है ? उसके बारे में सारी बातें साफ साफ बतलाओ। वह बोलने लगी—हे पुरुषोत्तम, सुनो—इस नगर का स्वामी भीमसेन नाम का राजा था और मैं उसकी लड़की रत्न सुन्दरी नामकी हुई और वह मेरा पिता तापस का भक्त हुआ। एक समय एक मास का उपवास वाला कोई तपस्वी इस नगर में आया। मेरे पिताने उसे भोजन करने के लिए कहा, तब वह मेरा रूप देखकर व्याकुल हो गया और रात में मेरे पास चोर की तरह आते हुए उसको पहरेदारों ने पकड़ कर बांध दिया फिर प्रातः काल में राजा के पास ले गया और राजाने उस (तपस्वी) को शूली (फांसी) पर लटका दिया. उस कारण आर्त्तध्यान से वह मरकर राक्षसी हो गई और उसने ही इस नगर को उजड़ कर के पूर्व की शत्रुता से राजा को भी मार डाला, यह देखकर नगर के सारे लोग भी डर कर भग गए, इस कारण यह नगर शून्य (सूनसान) हो गया। पूर्व जन्म के महा मोह के (मेरे प्रति) कारण से मुझे उसने ऐसा रखा है। काला

कुल - जाति - विहीनानां, पितृ - मातृ - वियोगिनाम् ।
गेहिनी - पुत्र - युक्तानां, नूनं देया न कन्यका ॥ ६१ ॥

नीच कुल और नीच जाति वालों को, बिना मां-बाप वालों को, स्त्री और पुत्रों से युक्त व्यक्ति को निश्चय करके कन्या नहीं देनी चाहिए ॥ ६१ ॥

अपरं च—

और भी—

सदैवोत्पन्न - भोक्तृणा — मालस्य - वश - वर्त्तिनाम् ।
बहु - वैराग्य - युक्तानां, नूनं देया न कन्यका ॥ ६२ ॥

सदा ही उत्पन्न-भोगी को, आलसी को, अधिक विरागी को हरगिज कन्या नहीं देनी चाहिए ॥६२ ॥

अतः सुकुलजात्युत्पन्नसत्पितृभ्यामुभयलोकशुभेच्छयैतान् गुणान् विलोक्यैव सुता प्रदेया ।

इसलिए, सुन्दर कुल और जाति से उन्पन्न अच्छे मां-बाप से युक्त दोनों लोक की मंगल (कल्याण) कामना से इन (निम्न लिखित) गुणों को देखकर ही लड़की देनी चाहिए—

यथा—

जैसे :—

कुलं च शीलं च सनाथता च, विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीया-स्ततःपरं भाग्यवशा हि कन्या ॥ ६३ ॥

कुल और आचरण, सनाथता (माता-पिता-भाई आदि से युक्त), विद्या, धन, शरीर और वय (उमर) ये सातों गुण वर में देखना चाहिए—इसके बाद अपना भाग्य से ही लड़की सुख वाली या दुःख वाली होती है ॥ ६३ ॥

इति तद्वचो निशम्य कन्यकयोक्तम्—अहं स्वयमेव स्वयोग्यं वरं दर्शयामि, राक्षस्योक्तम्—तर्ह्यधुनैव त्वां तस्मै ददामि । ततः पूर्वसंकेततस्तदैव मन्त्री प्रकटीबभूव, राक्षस्याऽपि तया सह गांधर्वविवाहेन स परिणायितः । करमोचनावसरे च खट्वादिवस्तुचतुष्टयं तेन याचितं, तयाऽपि च तत्सर्वं तस्मै समर्पितम् । अथैकदा राक्षसी क्रीडाद्यर्थमन्यत्र जगाम, तदा तया कन्यया संप्रोक्तं—

के पीछे दौड़ पड़ी और उनसे मिल गई। मंत्रीने लाल करवीर की चाबुक से उसे मारा पीछे निर्लज होकर वह अपने स्थान को लौट गई। फिर जिस गंभीरपुर नगर में उसकी पहली दो स्त्रियां थीं, उसी नगर के उद्यान वन के बीच में खाट के प्रभाव से मंत्री आगया। वहीं अत्यन्त सुन्दर वन के बीच में अपनी स्त्री रत्न-सुन्दरी को बाहर छोड़कर वह मंत्री रहने की जगह देखने के लिए नगर में गया। इधर उस नगर से वहाँ एक कपट कला में प्रवीण वेश्या आई। उसने अत्यन्त सुन्दर रूप उस (मंत्री की स्त्री) को देखकर मन में विचार किया। क्या यह स्वर्ग से रूठकर यहां स्वर्ग-वधू (अप्सरा) तो नहीं आगई ? या मंत्र साधन करने के लिए विद्याधरी तो नहीं है ? अथवा विष से उद्विग्न (व्याकुल होकर-घबड़ाकर) नाग लोक की कन्या तो यहां नहीं आगई ? या रति है ? वा इन्द्राणी है ? किंवा शिव की पत्नी पार्वती तो नहीं है ? फिर उसने विचार किया—यदि यह मेरे मकान पर चले तो मेरा बहुत बड़ा भाग्य फले और अंगना हथिनी की जैसी चालवाली लोक को आनन्द देने वाली इस सुन्दरी से सुन्दर कल्पलता की तरह आरोपित हो (वन) जाए। इसलिए, किसी भी उपाय से इसको लेना चाहिए, ऐसा शोचकर उसके पास आकर वह वेश्या उस (रत्नसुन्दरी) को कहने लगी—

यथा—

जैसे :—

भद्रे ! काऽसि सुरांगना ? किमथवा विद्याधरी किन्नरी ?
किं वा नागकुमारिका ? बुधसुता किं वा महेशप्रिया ? ।
पौलोमी किमु ? चक्रवर्ति-दयिता तीर्थाधिपोल्लंघनात्,
शापात्क्रुद्ध-मुनीश्वरस्य वचसा त्वं कानने दृश्यसे ॥ ६४ ॥

हे बच्ची, तुम कौन है ? देवी है, या विद्याधरी है अथवा किन्नरी है ? किंवा पाताल कन्या है या देव कन्या है अथवा महादेव की पत्नी पार्वती है ? या इन्द्राणी है ? किंवा चक्रवर्त्ती की पत्नी है ? जो किसी क्रोधित मुनीश्वर के वचन से, शाप से, तीर्थाधिप के उल्लंघन से तुम वन में दीख रही हो ॥ ६४ ॥

अथ वत्से ! त्वं सत्यं ब्रूहि कस्य पत्नी ? कुत आगता क्व ते भर्तेति ? पृष्टा सती सा तदग्रे यथास्थितं निजस्वरूपं जगाद। तदा कपटपाटवोपेतया वेश्यया कथितम्—तर्हि त्वं मद्भ्रातृजायाऽसि कथमत्र स्थिता ? मन्त्री तु मदालयं प्राप्तस्तेनैवाहं तवाह्वानार्थं प्रेषिताऽस्मि, ततस्त्वमेहि मया सार्कं मे मन्दिरे, ततः सा सरलस्वभावतया तन्मधुरवाक्यप्रपञ्चवञ्चिता तदैव तद्गृहं गता।

हे बच्ची, अब, तुम सच सच कहो कि किसकी स्त्री हो और कहां से आई हो और तुम्हारा पति कहां है ? ऐसा पूछने पर वह (रत्नसुन्दरी) उस (वेश्या) के सामने अपना ठीक परिचय कह दिया।

अधिक सीधापन अच्छा नहीं, जाकर वनस्थली को देखो,—वहां सीधे झाड़ काटे जाते हैं और टेढ़े-मेंढ़े नहीं काटे जाते हैं ॥ ६७ ॥

तथा च—

और इसीतरह :—

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने,
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्त्तता,
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोक-स्थितिः ॥ ६८ ॥

अपने कुटुम्बवर्ग में चतुराई, दूसरे लोगों में दया, दुष्टों के प्रति शठता, सज्जनों में प्रेम, राजाओं में नीति, विद्वान् वर्गों में सरलता, शत्रुओं में वीरता, गुरुजनों में क्षमा और स्त्री वर्गों में चालाकी, ये बातें जिन पुरुषों में पाई जाती हैं वे ही कला-कुशल हैं और उन्हीं में लोगों की स्थिति है ॥ ६८ ॥

अथ नानादेशान्तरायातलोकैर्लीलाविलासकलाकुशलैः कामिनीनयनानन्ददायकैरभिभृतं मनोज्ञतोरणैः पञ्चशतैर्वातायनैर्युतं धन्याभिः शतपंचभिर्वरकन्याभिः पूरितमेवंविधं महासौधममरागारसन्निभं गीतनृत्यादिध्वनिगुञ्जितं रत्नसुन्दर्यैक्षत, तया गणिकया च सा निजावाससप्तमभूमौ स्थापिता। अथ सा वेश्यां प्रति पृच्छति स्म—क्व मे भर्त्ता ? सा प्राह—बहवोऽत्र ते भर्तारः समायास्यन्ति। ये राजानो राजपुत्राः मण्डलाधिपाः सुश्रेष्ठिनः सार्थवाहाश्च ते त्वत्किंकरा भविष्यन्ति। छत्रचामरवादित्रसुखासनहयगजान् तवाज्ञावशवर्तिनो राजान आनयिष्यन्ति। मनोज्ञतरा नवनवास्तेऽत्र सत्कामभोगा भविष्यन्ति, हे मृगेक्षणे! किं बहुना ? तव पदाम्बुजे नवनवा नराः सदैव पतिष्यन्ति, त्वया नेत्रविभागेन दृष्टाः सुरासुरसेविता मुनयोऽपि वशवर्त्तिनो भविष्यन्ति। हे सुभगे! किं बहूक्तेन ? नरत्वेऽपि मनसा चिन्तितं सर्वं देवत्वं भविष्यति, इत्याद्युक्त्वा तया सर्वोऽपि स्वकुलाचारः प्रदर्शितः। तदा मन्त्रिपत्न्या चिन्तितम्—ऊः एतत्तु गणिकालयं, हा! मयाथास्मिन् वेश्यागृहे पतिं विना सर्वोत्तमं भूषणरूपं स्वशीलं कथं रक्षणीयम् ?

इसके बाद अनेक दूसरे देशों से आए हुए, लीला, विलास (नाटक-खेल कौतुक) कला में कुशल और कामिनियों के नयनों को आनन्द देने वाले लोगों से भरपूर, पांच सौ सुन्दर तोरण और झरोखों से युक्त और अच्छी पांच सौ कन्याओं से पूर्ण, देव-भवन के समान, गान और नाच आदि के शब्दों से

शील सारे गुणों के समुदाय रूपी मस्तक में मणि समान है, शील विपत्ति से रक्षा करने वाला है, शील सुन्दर आभूषण है, शील को मुनि लोग अच्छी तरह धारण करते हैं। कठिन से हटाने लायक जो अधिक दुःख रूपी अग्नि उसको शमन करने में वर्षा काल के मेघ से भी अधिक शक्तिशाली शील है, शील सब सुखों का एक कारण है, इसलिए, शील को धारण करना किसका अभिमत नहीं? अर्थात् सबों की राय है ॥ ७० ॥

अपि च—

और भी :—

व्याघ्र-व्याल-जलानलादि-विपदस्तेषां व्रजन्ति क्षयं,
कल्याणानि समुल्लसंति विबुधाः सान्निध्यमध्यासते ।
कीर्त्तिः स्फूर्त्तिमियर्त्ति यात्युपचयं धर्मः प्रणश्यत्यघं,
स्वर्निर्वाण-सुखानि संनिदधते ये शीलमाबिभ्रते ॥ ७१ ॥

जो लोग शील को धारण करते हैं, उनके बाघ, सर्प, जल, अग्नि आदि की विपत्तियां नाश हो जाती हैं, कल्याण होते हैं और देवता पास में आते हैं, कीर्ति फैलती है और धर्म बढ़ता है, पाप विनाश होता हैं, स्वर्ग और मोक्ष के सुख सामने आते हैं ॥ ७१ ॥

अथ तया स्वशीलभंगभयात्कश्चिदपवरकं प्रविश्य कपाटे दत्ते, तच्छीलप्रभावाच्च ते कथमपि नैव समुद्घटिते। अथ प्राक्परिणीता मन्त्रिपत्नी सा विनयसुन्दर्यपि श्रीदत्तकुम्भकारगृहस्थिता, केनापि कामिना राजपुत्रेण हास्यादिना पराभूता सती, स्वशीलरक्षायै साध्वी तथैव कपाटे पिधाय स्थिताऽऽसीत्। इतोऽयं व्यतिकरो राजलोकसकाशाद्राज्ञा ज्ञातः, ततः स्वनगरानर्थभीतेन राज्ञा पटहोद्घोषणा कारिता—यः कश्चिदेतत्कपाटत्रयमुद्घाटयिष्यति, स्त्रीत्रयं च वादयिष्यति, तस्य राजा स्वराज्यार्द्धं राजकन्यां च दास्यति। इतः स मन्त्री निजनिवासार्थं स्थानं विलोक्य भोजनं च गृहीत्वा यावत्तत्रोपवने समागतस्तावत्तत्र तेन निजस्त्री रत्नसुन्दरी नावलोकिता। तदेतस्तत-स्तद्वने विलोकिताऽपि परं क्वापि सा न लब्धेति विह्वलः सन् स नगरमध्ये परिबभ्राम। इतस्तेन सा पटहोद्घोषणा श्रुता मनसि सर्वं स्वव्यतिकरं च विज्ञाय पटहं स्पृष्ट्वा बहुजनपरिवृतो मन्त्री कुम्भकारगृहे समागतः। तत्र च द्वारपार्श्वे समागत्य तेन श्रीपुरनगरनिर्गमनकालादारभ्य गंभीर-पुरप्राप्तिविनयसुन्दरीदेवकुलमोचनावधिः सर्वोऽपि वृत्तान्तो निगदितः। तन्निशम्य शीघ्रं विनय-

तब सौभाग्यसुन्दरी भी किवाड़ों को खोल डाली। फिर वहां से मंत्री वेश्या के घर पर आकर फलक (पट्टी) लेकर समुद्र पार होने से आरम्भ कर उसे गंभीरपुर में पहुंचना, रहने की जगह को ढूँढ़ना और भोजन लेने के लिए नगर के बीच आने तक हाल कह सुनाया। तब उस तीसरी रत्नसुन्दरीने भी मंत्री को पहचान कर किवाड़ उघाड़ डाला। फिर उन तीनों स्त्रियोंमे अपना अपना हाल कह सुनाया। फिर राजाने भी खुश होकर अपना आधा राज्य और अपनी शीलसुन्दरी नाम की लड़की मंत्री को देकर आश्चर्य के साथ पूछा—आप समुद्र में किसतरह गिर गए? मैं तो आप में बड़ी चतुराई देखता हूं। इसलिए, मैं ऐसी उमीद करता हूं कि किसी छली दुष्टने आपको गिरा दिया होगा। अब, आप अपना सच्चा हाल कह सुनाइए, जिसको सुन-समझकर मैं उस दण्डनीय व्यक्ति को दण्ड (सजा) दूंगा, जिससे आगे कोई दूसरा भी दुष्टात्मा इसतरह का खराब काम नहीं करेगा। राजा की ऐसी बातें सुनकर दयालु मंत्री कुछ चुप होकर बोला—हे राजन्! मैं अपनी असावधानी (लापरवाही) से गिर गया। क्योंकि, बड़ों को कोई बुराई भी करता है तो वे उसकी अच्छाई ही करते हैं।

यतः—

कहा भी है—

सुजनो न याति विकृतिं, परहित-निरतो विनाश-कालेऽपि।
छेदेऽपि चन्दन-तरुः, सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥ ७२ ॥

दूसरों की भलाई करने वाला सज्जन अपने विनाश काल में भी विगड़ते नहीं, क्योंकि चन्दन का झाड़ अपने काटने वाले कुल्हाड़ी के मुख (धार) को सुगन्धित (खुशबूदार) कर देता है ॥ ७२ ॥

ततो राज्ञाऽत्याग्रहेणाभिहितम्—यद् भूतं वृत्तं तत्सर्वं त्वया वक्तव्यमेव भविष्यतीत्यादि बह्वाग्रहिकं राज्ञो वचनं निशम्य मनसि तु कथमस्य भावो नासीत्तथाऽप्यतीवाग्रहतो मन्त्रिणा किंचिन्मात्रमेव सागरदत्तश्रेष्ठिवृत्तं राज्ञे निवेदितम्, परं राज्ञा तु स्वल्पोक्तेनैव बुद्धिकौशल्यात्सर्वं ज्ञातम्। तदनु तदिभ्यानाचारानीत्यादिकार्यतो भृशं क्रोधातुरेण राज्ञा तत्क्षण एव श्रेष्ठिनमाहूयोक्तम्—रे दुष्ट! परधनस्त्रीलोलुपेन सता त्वयैवंविधानि घोरपातकानि क्रियन्ते। एवं बहुधा निन्दादिभर्त्सनादिधिक्कारवाग्भिर्निर्भर्त्स्य तत्सकाशात्संत्रिधनं मंत्रिणे प्रदापितम्। ततोऽन्यायकारिणे तस्मै चौरदंडं दातुं लग्नस्तदा दयालुनाऽमात्येन नृपतिपादयोर्लगित्वोक्तम्—हे राजन्नेष मे महोपकारी, एतत्प्रभावेणैवात्र भवत्पार्श्वे समेत्य यद्भवदीयांगजा मया परिणीताऽयं सर्वोऽप्यस्यैव प्रभावः। इत्याद्युक्त्वा स जीवन्मोचितः, कुतो महतामिमान्येव लक्षणानि।

इस कारण से, बल्कि, आदर-सत्कार पूर्वक कुछ देकर मंत्री उस सागरदत्त सेठ को अपने स्थान में भेज दिया। अनन्तर मंत्री उन चारों स्त्रियों के साथ 'दोगुन्दुक' देवता की तरह विषय-सुख (भोग-विलास) को भोगते हुए वहां कितने दिनोंतक सुखपूर्वक रहा। अब, एक समय रात के पिछले पहर में (ब्राह्ममुहूर्त्त में) वह धर्मबुद्धि नित्य के धर्म-कर्म करने के लिए जाग कर शौच आदि क्रिया करके पीछे मन में विचारने लगा—अब, ससुर के घर में रहते हुए मुझे बहुत दिन बीत चुके। इसके आगे यहां मेरा रहना अच्छा नहीं है, उपहास का कारण है और मान की जगह उलटा अपमान का घर है, इसलिए, यहां रहना ठीक नहीं है।

यतः—

क्योंकि—

श्वशुर - गृह - निवासः स्वर्ग-तुल्यो नराणां,
यदि वसति विवेकी पंच षड् वासराणि।
दधि - गुड - घृत - लोभान्मासयुग्मं वसेच्चेत्,
स भवति खर-तुल्यो मानवो मान-हीनः ॥ ७४ ॥

मनुष्यों को श्वसुर के घर (ससुराल) में रहना स्वर्ग का समान है, मगर थोड़े ही दिनोंतक, इसलिए, यदि कोई बुद्धिमान् ससुराल में रहता है तो पांच या छः दिनोंतक ही रहता है, अगर दही, गुड़, घी-दूध शक्कर आदि के लालच से दो मास वहां रह जाय तो वह व्यक्ति मान से रहित होकर गधे के समान हो जाता है ॥ ७४ ॥

तथा च —

और भी—

हविर्विना रविर्यातो, विना पीठेन केसरः।
कदन्नात्पुण्डरीकाख्यो, गल-हस्तेन घोघरः ॥ ७५ ॥

हवन के बिना रवि नामक व्यक्ति चला गया, पीढ़ा के बिना केसर चला गया, कदन्न (मोटा अन्न) खाने से पुण्डरीक चला गया और गरदनियां देने से 'घोघर' चला गया ॥ ७५ ॥

यहां कथानक इस प्रकार है कि—एक व्यक्ति के चार जमाई थे, चारों के क्रमशः रवि, केसर, पुण्डरीक और घोघर नाम थे। चारों का अलग अलग यह खास नियम था—रवि साहू बिना हवन किए

यथा—

जैसे :—

मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः, परचित्तोपलक्षकः ।
धीरो यथोक्तवादी च, एष दूतो विधीयते ॥ ७६ ॥

बुद्धिमान्, बोलने में चतुर, विद्वान्, दूसरे के हृदय की बातों को पहचानने वाला, धीर और यथार्थ-वादी, ऐसा ही दूत होना चाहिए ॥ ७६ ॥

सोऽप्यागत्याद्भुतवाण्या तमेवं जगाद—अये राजन् ! महाप्रतापवान्मेऽधिपतिस्तदग्रे न कोऽपि शक्तिशाली स्थातुं शक्तोऽतः प्रतिदिनं तस्य तेजोऽधिकत्वं यातीति जाने न कयाऽपि जनन्यैतत्समोऽन्यो जगति प्रसूतः । यस्तस्योक्तं नांगीकरोति तस्य हिमानीव वनखण्डं समस्तं राज्यादिकं दहति । क ईदृग्योद्धाऽस्ति यस्तस्य प्रतापं सहेत ? येन मत्स्वामिनोऽग्रे गर्वः कृतस्तस्य सर्वोऽपि गर्वस्तेन प्रभञ्जितः । कः कृष्णभुजंगं सिंहञ्चाऽऽलिंग्य स्वमूढतां दर्शयेत् ? अतएव त्वया तत्र गत्वा तेन सार्कं सन्धिरेव विधेयः । अन्यथा योद्धव्यम्, इत्थमेव स्वामिना समादिष्टोऽस्मि च तच्चत्समीपेऽहं वच्मि । एतद्यदि ते प्रमाणं तर्हि रणभूमौ गन्तव्यमेव, अन्यथा तृणं दन्ताग्रे निवेश्य पुराद्बहिर्निर्गन्तव्यम् । एवं दूतोक्तमाकर्ण्य कृतभ्रुकुटिललाटो रक्तीकृतनेत्रः श्रीपुराधीशः पापबुद्धिनृपो जगाद—क्षत्रियोऽहमस्मि मरणं त्वेकवारमस्त्येवेति कथमहं सर्वं प्राप्तं यशो विनाशं नयामि ? अतो हे दूतेश ! यथाग्नौ शलभः स्वयमेव निपत्य विनश्यति, तथा त स्वामिनाऽप्ययं स्वयमेव मृतिपटहो वादितः । तस्मात्कथमेष कुशलपूर्वकं स्वगृहं समेष्यति ? अरे ! गच्छ शीघ्रं स्वस्वामिने निवेदय—यदि ते राजा रणार्थमुद्यतो रणभूमौ समागमनेच्छुः, पुनः सूर्योदयत एव रणकरणमर्यादा तेन ते स्वामिना स्थापिताऽस्ति, तर्हि तस्य यद्बलवाहनं तत्सर्वं संगृह्य तेन त्वरितं समागन्तव्यं नात्र विलम्बः करणीयः । मया चैतानि गोपुराणि निशाकाले नगररक्षार्थं पिहितानि, प्रातरुद्घाट्य रणतूर्यवादनपूर्वकं तेन समं सम्यग् योत्स्ये । इत्थं पापबुद्धिराजवाक्यं निशम्य शीघ्रमेवागत्य दूतेन स सर्वोऽप्युदन्तो निजराजानं प्रति निगदितः । अथ पापबुद्धी राजा प्रातश्चतुरंगिणीं सेनांःसज्जीकृत्य स्वपुराद्बहिर्निर्गतः, परं मार्गेऽपशकुनं जातं तथापि मदोन्मत्तस्स न तद्गणयामास, यतो गर्ववशेन कुपुरुषो जनैर्हास्ययोग्यं वृथा कार्यं किं न करोति ?

तथा च—

और भी—

विष-भार-सहस्रेण, वासुकिर्नैव गर्जति ।
वृश्चिकस्तृणमात्रेणा—प्यूर्ध्वं वहति कंटकम् ॥ ७८ ॥

हजार गुना विष की बोझ से भी वासुकि (सर्पराज) गर्जना नहीं करता, किन्तु विच्छू जरा सा विष को धारण करने से भी अपने ऊपर कांटा रखता है ॥ ७८ ॥

ततो यत्र मन्त्रिसैन्यमवस्थितं तत्र सोऽपि गतोऽविलम्बेनैव, यतोऽहंकार्येवं नैव विचारयति ।

फिर जहां मंत्री की सेना ठहरी थी, वहां वह भी शीघ्र ही चला गया, क्योंकि, अहंकारी ऐसा विचार नहीं करता है—

यथा—

जैसे—

बलिभ्यो बलिनः सन्ति, वादिभ्यः सन्ति वादिनः ।
धनिभ्यो धनिनः सन्ति, तस्माद्दर्पं त्यजेद् बुधः ॥ ७९ ॥

इस संसार में बली से भी बली हैं, विद्वान् से भी विद्वान् हैं तथा धनी से भी धनी हैं, इसलिए, बुद्धिमान को चाहिए कि वह अपने बड़प्पन का गर्व छोड़ दे ॥ ७९ ॥

अथ मध्ये रणस्तम्भमारोप्य भटाः प्रतिभटा अन्योन्यमभिमुखीबभूवुः, रणतौर्यत्रिकं च वादितम् । तदनन्तरं महाशूरताभिमानेन ते उभये युद्धमारेभिरे । तद्यथा—हस्तिभिर्हस्तिनः, वाजिभिर्वाजिनः, पत्तिभिः पत्तयो, रथिभि रथिनो, नालगोलिभिर्नालगोलिनः संघट्टितास्तेनोच्छलिता रजोराजिरादित्यं निस्तेजसं चकार । हस्तिनश्च तत्र वारिवाहा इव जगर्जुः, विद्युत्पाता इव कृपाणप्रहारा जाताः, शिलीमुखाश्च जलधारा इवाऽवर्षन् , जलप्रवाह इव रक्तप्रवाहः प्रससार, तत्र रणसंमुखे ये कातरास्ते सर्वेऽपि निस्तेजसः सन्तो वर्षाकाल इन्द्रयवा इव पर्यशुष्यन् , रक्तपातेन सकर्दमा मही च संजाता । रजःपूरेणाऽम्बरं प्रच्छादितम्, तदा किमयं वर्षाकाल आगत इति लोकाः संशयं चक्रुः ? ये सुभटास्ते सिंहनादं कुर्वन्ति स्म, तेनान्यजनकृतः शब्दो न श्रूयते स्म ।

के सुभटों (वीरों) द्वारा पराजित हो गए। फिर पापबुद्धि राजा उन सुभटों के बीच में बांध लिए गए। उसके बाद मंत्री राजाको पूछने लगा—क्या आप मुझे पहचानते हैं? तब राजा कहने लगा—सूर्य के समान तेजस्वी (प्रतापी) आपको कौन नहीं जानता? फिर मंत्रीने कहा—यह मैं नहीं पूछता हूं, लेकिन मैं कौन हूं, यह पूछता हूं। तब राजाने कहा कि मैं नहीं जानता हूं। फिर मंत्रीने कहा कि सुनिए—हे राजन! मैं वही धर्मबुद्धि नाम का आपका मंत्री विदेश से लौट कर धर्मफल दिखलाने के लिए आपके आगे आगया हूं। फिर मंत्रीने हाथ जोड़कर बोला—हे राजन! अब तो आप कहें कि धर्म निरन्तर अच्छा फल देने वाला है या नहीं? धर्म से ही सारी सम्पत्ति की प्राप्ति और मेरी सारी कामनाएँ पूरी हुई। इसतरह दुबारा भी विदेश में जाकर उस मंत्रीने उस राजा को जैन धर्म में पक्का कर दिया, फिर उस राजा ने भी दुःख देने वाले अधर्म को—पाप रूपी फांस को छोड़ कर संसार-सागर से पार करने वाली नौका रूपी जिनेश्वर की आज्ञा को ही सहर्ष स्वीकार की। उसी समय में ही मंत्रीने राजाको बन्धन से मुक्त कर दिया और हर्ष के नगाड़े वहां बजवा दिए। अहा! मंत्री का यह सौजन्य (भलमनसाई) कैसा आश्चर्य जनक रहा, जो राजा को धर्मात्मा बनाने के लिए दूसरे देश में चला गया। अनेक तरह के दुःख देखे, लेकिन अन्त में तो उसने राजा को धर्मात्मा बना कर ही छोड़ा। इसतरह के परोपकारी स्वभाव वाले सज्जन इस लोक में विरले (थोड़े) ही होते हैं।

उक्तं च—

कहा भी है—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ॥ ८० ॥

प्रत्येक पर्वत पर रत्न नहीं होता, हरेक हाथी में मुक्ता नहीं होती, सभी जगह सज्जन नहीं होते और हरेक जंगल में चन्दन नहीं होता है ॥ ८० ॥

अन्यदपि—

और भी—

उपकर्तुं प्रियं वक्तुं, कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम्।
सज्जनानां स्वभावोऽयं, केनेन्दुः शिशिरीकृतः? ॥ ८१ ॥

सज्जनों का यह स्वभाव है कि दूसरे की भलाई करना, मीठा बोलना और अकृत्रिम प्रेम करना, क्योंकि चन्द्रमा को किसने शीतल (आह्लादक) किया? ॥ ८१ ॥

अपि च—

और भी—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवर-गृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रिय-शक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्म-श्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
प्रोद्दीप्ते भवने च कूप-खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ? ॥ ८४ ॥

जबतक यह शरीर स्वस्थ है और जबतक बुढ़ापा दूर है, एवं जबतक ठीक ठीक इन्द्रियों की शक्ति है और जबतक आयु क्षय नहीं हुई है, तभी तक विद्वान् बुद्धिमान् को आत्म-कल्याण में महान् प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि, घर में आग लगजाने पर उस समय में कुआँ खोदने का उद्योग कैसा ? ॥ ८४ ॥

पुनर्हे भव्याः ! कालोऽयमनादिकालतोऽनन्तप्राणिनो भक्षयन्नपि कदाचित्सौहित्यमलभमानोऽद्यपर्यन्तमपि संसारे प्रतिक्षणं प्राणिनामायुष्यं हरति ।

और फिर, हे भव्यलोको ! यह काल अनादि काल से अनन्त-प्राणियों को भक्षण करता हुआ कभी भी सुतृप्ति को नहीं प्राप्त होता हुआ आजतक भी संसार में प्रतिक्षण प्राणियों की आयु हरता है।

यतः—

क्योंकि—

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्द्धं गतं,
तस्यार्द्धस्य कदाचिदर्धमधिकं वृद्धत्व-बाल्ये गतम् ।
शेषं व्याधि-वियोग-शोक-मदनासेवादिभिर्नीयते,
देहे वारि-तरङ्ग-चंचलतरे धर्मं कुतः प्राणिनाम् ? ॥ ८५ ॥

मनुष्य की आयु सौ वर्ष की साधारणतः मानी गई है, आधी रातों में ही बीत जाती, उस आधे की आधी कभी कम-ज्यादा बचपन और बुढ़ापा में बीतती है और बाकी चौथाई या कुछ कम-ज्यादा आयु रोग, वियोग, शोक और विषय-वासना-सुख आदि में बीतती है और यह शरीर जल की तरङ्ग की तरह चञ्चल (अस्थिर) है, फिर प्राणियों का धर्म कहां से हो ? ॥ ८५ ॥

जो पाताल-निवासी असुर-गण हैं, जो स्वेच्छाचारी व्यंतर है, जो ज्योतिष्क विमान वासी देव हैं, तथा ताराओं से लेकर चन्द्रमा तक, एवं सौधर्म आदि देव लोक में जो वैमानिक देव-गण हैं, वे सब भी विवश होकर यमराज के घर में जाते हैं (मृत्यु को प्राप्त होते हैं) फिर शोच (मरना है तो डरना) क्या ? ॥ ८७॥

अपि च—

और भी—

दिव्य-ज्ञान-युता जगत्-त्रय-नुताः शौर्यान्विताः सत्कृताः,
देवेन्द्राः सुर-वृन्द-वन्द्य-चरणाः सद्विक्रमाश्चक्रिणः ।
वैकुण्ठा बलशालिनो हलधरा ये रावणाद्याः परे,
ते कीनाश-मुखं विशन्त्यशरणा यद्वा न लंघ्यो विधिः ॥ ८८ ॥

दिव्यज्ञान से युक्त, तीनों लोक से नमस्कृत, बड़े वीर, सत्कार पाए हुए, देवों के समुदाय से वन्दित चरण इन्द्र और अच्छे पराक्रम वाले चक्रवर्ती, अप्रतिहत बलशाली बलदेव और जो दूसरे रावणादिक प्रति-वासुदेव हो गए हैं, वे सब भी यमराज (मृत्यु) के मुख में अशरण (असहाय) होकर घुसते हैं, अथवा (वास्तव में) भावी को कोई लांघ नहीं सकता ॥ ८८ ॥

अस्मिन्काले समागते सर्वोत्तमा अपि निजसम्पदोऽत्रैवाऽवतिष्ठन्ते, पुनरेकाक्येव जीवः सर्वमपहाय परलोकमार्गं गच्छति ।

मृत्यु के समय आने पर सर्व-श्रेष्ठ भी अपनी धन-दौलत यहीं रह जाती है, फिर जीव सब छोड़ कर अकेला ही परलोक में जाता है।

तदुक्तञ्च—

कहा भी है कि—

एतानि तानि नव - यौवन - गर्वितानि,
मिष्टान्न - पान - शयनासन - लालितानि ।
हारार्द्ध - हार - मणि - नूपुर - मण्डितानि,
भूमौ लुठन्ति किल तानि कलेवराणि ॥ ८९ ॥

पहले इस जन्म में माता की कुक्षि में गर्भ में रहने से दुःख होता है, फिर बचपन में पेशाब-टट्टी से लिपटाया हुआ शरीर और माता के दूध पीने का दुःख रहता है, फिर जवानी में स्त्री-वियोग-जनित दुःख होता है और बुढ़ापा में तो कुछ सार ही नहीं है, इसलिए, हे लोगो ! बोलो तो सही कि—संसार में जरा सा भी सुख है ? ॥ ६१ ॥

अन्यदपि—

और भी—

निर्द्रव्यो धन-चिन्तया धनपतिस्तद्रक्षणे चाकुलो,
निःस्त्रीकस्तदुपाय-संगत-मतिः स्त्रीमानपत्येच्छया ।
प्राप्तस्तान्यखिलान्यपीह सततं रोगैः पराभूयते,
जीवः कोऽपि कथंचनाऽपि नियतं प्रायः सदा दुःखितः ॥ ६२ ॥

निर्धन धन की चिन्ता से और धनी उसकी रक्षा में व्याकुल रहता है, विना स्त्री का स्त्री-प्राप्ति के लिए और स्त्रीवाला सन्तान के लिए प्रायः बेचैन रहता है, कदाचित् इन चीजों को मिलने पर भी प्राणी सर्वदा रोगों से पीड़ित रहता है, वास्तव में कोई भी जीव किसी तरह भी निश्चय करके प्रायः सदा दुःखी ही रहता है ॥ ६२ ॥

तथा च—

और भी—

दारिद्र्याकुलचेतसां सुत-सुता-भार्यादि-चिन्ताजुषां,
नित्यं दुर्भर-देह-पोषण-कृते रात्रिंदिवं खिद्यताम् ।
राजाज्ञा-प्रतिपालनोद्यतधियां विश्राम-मुक्तात्मनां,
सर्वोपद्रव-शंकिनामघभृतां धिग्देहिनां जीवनम् ॥ ६३ ॥

गरीबी से व्याकुल-चित्त वाले, लड़का-लड़की-स्त्री आदि की चिन्ताओं से युक्त और प्रति दिन हैरानी से देह को पालन-पोषण के लिए दिन-रात खेद पाने वाले, राजा की आज्ञा को पालन करने में सतर्क रहने वाले, आराम से रहित जीवों के, सभी तरह उपद्रव की शंका करने वाले पापी प्राणियों के जीवन को धिक्कार है ॥ ६३ ॥

जन्मन्येकत्र दुःखाय, रोगः सर्पो रिपुर्विषम् ।
अपि जन्मसहस्रेषु, मिथ्यात्वमचिकित्सितम् ॥ ९६ ॥

रोग, सर्प, शत्रु और विष ये एक जन्म में ही दुःख दायक हैं, लेकिन हजार जन्मों में भी मिथ्यात्व (असत्य धर्म) अचिकित्सित (लाइलाज) है ॥ ९६ ॥

अतः सर्वसंपद्धेतुकं स्वर्गापवर्गभवनैककारणमिहापि सर्वसौख्यप्रदायकमेवंविधं सम्यक्त्वं भजत ।

इसलिए, सब संपत्ति का कारण, स्वर्ग और मोक्ष होने का एक कारण, यहां भी सभी सुखों को देने वाले सम्यक्त्व की सेवा करो ।

यतः—

क्योंकि—

मूलं बोधि-द्रुमस्यैतद् द्वारं पुण्य-पुरस्य च ।
पीठं निर्वाण-हर्म्यस्य, निधानं सर्वसंपदाम् ॥ ९७ ॥

यह (सम्यक्त्व) ज्ञानरूपी झाड़ की जड़ है, पुण्य-नगर में जाने के लिए दरवाजा है, मोक्षरूपी महल में बैठने के लिए पीढ़ा है और सारी सम्पत्तियों का खजाना है ॥ ९७ ॥

तथा च—

और भी—

गुणानामेक आधारो, रत्नानामिव सागरः ।
पात्रं चारित्र-वित्तस्य, सम्यक्त्वं श्लाघ्यते न कैः ? ॥ ९८ ॥

जैसे सभी रत्नों का आधार समुद्र है वैसे सम्यक्त्व सारे गुणों का आधार है और चारित्र रूपी धन का पात्र है, अतः सम्यक्त्व की तारीफ कौन नहीं करता ? ॥ ९८ ॥

एवंभूतं सम्यक्त्वमङ्गीकृत्य देवगुरुधर्मान् सम्यक् सुपेत्य च शिवसुखं भवन्तः साधयन्तु । विषयविकारानपनीयाणुव्रतादीन् द्वादशव्रतानङ्गीकुरुत यत एष एव मुक्तेः शुद्धपथः । पुनर्यः प्राणी प्रेम्णा पंचमहाव्रतं परिपालयति, स तु भवान्तं विधायोत्तमां मोक्षगतिं प्राप्नोति । येन प्राणी राग-

और अनेक भय से युक्त भोग आदि सब को छोड़ कर निर्भय होकर सर्वश्रेष्ठ वैराग्य धर्म को ही सेवन किया करें।

यतः—

क्योंकि—

भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्तेऽग्निभूभृद्भयं,
माने म्लानिभयं जये रिपुभयं वंशे कुयोषिद्भयम्।
दास्ये स्वामिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं,
सर्वं नाम भयं भवेदिह नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥ २०० ॥

भोग में रोग का, सुख में क्षय का, धन में राजा और अग्नि का, मान में म्लानि का, जय में शत्रु का, वंश में खराब स्त्री का, सेवा में स्वामी का, गुण में खल का, शरीर में मृत्यु का भय है,-यानी मनुष्यों को इस संसार में सभी कुछ में भय ही है, परन्तु, एक वैराग्य ही अभय है॥ २०० ॥

भो भव्याः! बहूक्तेन किम्? परभवे सुखोपलब्धये धर्मसंवलं गृह्णन्तु, यतोऽत्रापि संवलं विना कोऽपि नरः कदाऽपि पन्थानं नो गच्छति, तर्हि दीर्घादृष्टपरलोकमार्गस्यात्रैव संवलं किन्न गृहीतव्यम्? यतो ग्रामान्तरं गच्छतः कुत्रापि पाथेयं मिलति, परत्र गन्तुस्तु नैव।

हे भव्य लोको! अधिक कहने से क्या? दूसरे जन्म में सुख-प्राप्ति के लिए धर्म-रूप संवल (रास्ता-खर्चा-चटखर्चा) ग्रहण करो, क्योंकि, यहां भी कोई भी व्यक्ति विना रास्ता-खर्चा के कभी भी मुसाफिरी नहीं करता तो फिर बहुत-लम्बे और अदृष्ट परलोक के मुसाफिरी का खर्चा (सत्य धर्म) यहीं क्यों नहीं ले लेते, क्योंकि, और दूसरे ग्राम में जाने वालों को रास्ता में कहीं (बस्ती में) कुछ खर्चा मिल भी जाता है, परन्तु परलोक में जाने वालों को तो नहीं मिलता है।

यतः—

क्योंकि—

ग्रामान्तरे विहित-संबलकः प्रयाति,
सर्वोऽपि लोक इह रूढिरिति प्रसिद्धा।

धिना मृत्वा ते समृद्धिमान् धर्मबुद्धिनामा मन्त्री जातः, एवं येन यादृशानि कर्माणि कृतानि तेन तादृशान्येवाऽत्र फलानि प्राप्तानि। अथ जिनदीक्षां गृहीत्वा सत्तपस्तप्त्वा केवलज्ञानमासाद्य, हे राजन्! अस्मिन्नेव भवे युवां मोक्षं गमिष्यथः। अतो रोगशोकादिदौर्भाग्याणां हर्ता भवदुःख-विनाशकः परमानन्ददायकश्चैवंविधो धर्मः सहर्षं मोक्षार्थिप्राणिभिः सदैव कर्तव्यः।

केवलमुनि की ऐसी धर्म-देशना सुनने के बाद सभा के सब लोग केवलीमुनि को बन्दना कर और यथाशक्ति नियम-व्रतों को स्वीकार कर अपने अपने स्थान को चले गए।

उसके बाद राजाने पूछा—हे भगवन्! मैंने पूर्व जन्म में कैसा कर्म किया है? जिस से मुझे धर्म में रुचि नहीं हुई और इस मंत्रीने कैसा कर्म किया है, जिससे इसको पद-पद में ऐसी सम्पत्ति मिली। तब केवली महाराज कहने लगे—हे राजन्! तुम दोनों के पूर्वजन्म की सारी बातें मैं कहता हूं, सावधान होकर सुनो—तुम दोनों पूर्वजन्म में सुन्दर और पुरन्दर नाम के दो सगे भाई हुए। लेकिन सुन्दर मिथ्यात्व से मोहित होकर अज्ञानता से अपने शरीर को कष्ट देने वाला तापस हो गया, वहां वनस्पतिओं को काटने-छाटने और जल-क्रीड़ा आदि दुष्कर्म से फिर अधिक मिथ्या-बुद्धि को प्राप्त करके अज्ञान तपस्या के बल से सभी इन्द्रियों को वश कर लिया। सूखे गोइठे, आग की धुनी, वन के फल-फूल, मिट्टी और विभूत (भस्म) को प्रति दिन उपयोग में लाकर जटाधारी अवधूत (बावा) बन गया। दोनों हाथ ऊपर और मुंह को नीचा कर अज्ञानता-जनित तपस्या के द्वारा पञ्चाग्नि (चारों ओर चार और एक बीच में जलती हुई अग्नि) को साधने लगा। हमेशा मौन रहने लगा, नाखून और बालों को बढ़ाने लगा। कन्द-मूल खा-खा कर शरीर को पतला करने लगा। छः काय-जीवों को विराधना करने लगा, दया को हृदय में कभी नहीं रखने लगा, स्नान आदि बाह्य शुद्धि को खूब करने लगा, इसतरह मिथ्यात्व में बांधने वाली पाप-क्रियाओं को आचरण करता हुआ अंत में मरकर अज्ञान-तपस्या के बदौलत यह तुम पापबुद्धि नाम का राजा हुए। और फिर पुरन्दर जैन-साधुओं की संगति से उनके उपदेश के अनुसार जिन-मन्दिर करवाना शुरु किया, मन्दिर के आधा तैयार होजाने पर इसने ऐसी शंका की कि—मैंने जो हजारों रुपये खर्च करके जिनमन्दिर बनवाना आरम्भ किया है, उसके तैयार होजाने पर मुझे कुछ भी फल मिलेगा या नहीं, इस तरह शक-सन्देह करता हुआ उसने फिर ऐसा विचार किया कि—हाय, मैंने झूठी धारणा की, क्योंकि, देवता के निमित्त किया हुआ काम कभी निःफल नहीं होता, इसलिए, मुझे मन्दिर बनवाने का फल मिलेगा ही, ऐसा विचार कर उसने निर्मल भाव से उस जिन मन्दिर को पूरा कर, फिर किसी ज्ञानी सद्गुरु के पास में महान उत्सव के साथ बहुत-द्रव्य खर्चा कर अंजन शलाका के साथ प्रतिष्ठा करवा कर जिन-मूर्त्तियां स्थापित करवाई। इसी तरह अन्य भी जिनधर्म की उन्नति में, जिनमन्दिर, बिम्ब-प्रतिष्ठा में, तीर्थ-यात्रा में, गुरु-भक्ति में, स्वामी-वत्सल में, पोषधशाला में, दुखियों को दान में इत्यादि अनेक धार्मिक कार्य कर फिर अन्त में अपनी आयु को समाप्ति में, यह पुरन्दर का जीव शुभ-समाधि पूर्वक मरकर

सकाशे राजमन्त्रिणौ सदुपदेशमुपलभ्य वैराग्यरागेण स्वात्मानमभिरज्य स्वस्वसुताय स्वस्वपदवीं समर्प्य दीक्षां गृहीत्वा ज्ञानतपस्तप्त्वा निरतिचारं चारित्रं सम्यक् परिपाल्य केवलज्ञानञ्चासाद्य मोक्षं जग्मतुः। अतएव भो भव्यप्राणिनः! उभयलोके जयकारि धर्मफलं ज्ञात्वा पापमतिमपनीय तमनिशमेव त्रियोगेनाराधयत। मोक्षमार्गञ्च साधयत, सर्वदा शुद्धं श्रीजिनभाषितं जगज्जनतारकं दुर्गतिनिवारकं धर्मं धारयत। तेन युष्माकमपि राजमन्त्रिणोरिव कर्मभ्यो मोक्षो भविष्यति, पुनर्यो धर्मकर्माणि विधत्ते तस्याऽस्मिन्नपि भवे समस्तं वांछितं भविष्यत्येव।

अनन्तर राजा और मंत्री दोनों भी केवली के समीप में लिए हुए बारह व्रतों को अतिचार रहित पालन करते हुए और नीति पूर्वक राज्य करते हुए सुख से बहुत समय व्यतीत किए। फिर किसी समय किसी ज्ञानी गुरु के पास में अच्छा उपदेश पाकर वैराग्य-राग से अपनी आत्मा को अच्छी तरह रंग कर अपने अपने लड़के को अपना अपना पद देकर और स्वयं दीक्षा लेकर ज्ञान तप तपकर अतिचार-रहित चारित्र को अच्छी तरह पालन कर और केवल-ज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष को चले गए। इसलिए, हे भव्य प्राणियों! दोनों लोक में जय करने वाला धर्मफल को जानकर पापवाली बुद्धि को छोड़ कर दिन-रात उस सद्धर्म को ही मन-वचन और काया से आराधना करो। मोक्ष-मार्ग की साधना करो, सर्वदा शुद्ध, जिनेन्द्र से कहा हुआ, संसार से जीव को तारने वाला और दुःखों को हटाने वाले सद्धर्म को धारण करो। इससे आप लोगों को भी राजा-मंत्री की तरह मोक्ष हो जायगा और जो कोई अच्छा धर्म-कर्म करता है, उसको इसी जन्म में सभी अभिलाषा पूरी हो जाती ही है।

यतः—

क्योंकि—

आरोग्यं सौभाग्यं, धनाढ्यता नायकत्वमानन्दाः।
कृतपुण्यस्य स्यादिह सदा जयो वाञ्छितावाप्तिः॥ ३॥

पुण्य (धर्म) करने वालों को आरोग्य, सौभाग्य, धन-दौलत बड़प्पन-नेतृत्व, आनन्द, जय और अभिलाषा की पूर्त्ति सर्वदा होती है॥ ३॥

किं बहुना? सर्वेषां प्राणिनां पुण्येनैव सर्वे मनोरथाः पूर्णा भवन्ति, अतो मिथ्यात्वं सांसारिकसर्वखेदञ्च परित्यज्य हृदि सन्तोषं निधाय सर्वप्रदं पुण्यं कुरुत।

मुनि दीप विजय तथा मुनि गुलाब विजय, इन दोनों शिष्यों के विशेष आग्रह से मैं (श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वर) ने इस सुन्दर "कामघट कथानक" को विस्तार किया ॥ ६ ॥

॥ इति पापधर्मपरीक्षायां पापबुद्धी राजा धर्मबुद्धिश्च मन्त्री तत्सम्बन्धिनीयं कामघटकथा समाप्ता ॥

इसतरह पाप-पुण्य की परीक्षा में पापबुद्धि राजा और धर्मबुद्धि मंत्री के सम्बन्ध में यह "कामघट कथानक" समाप्त हुआ ॥
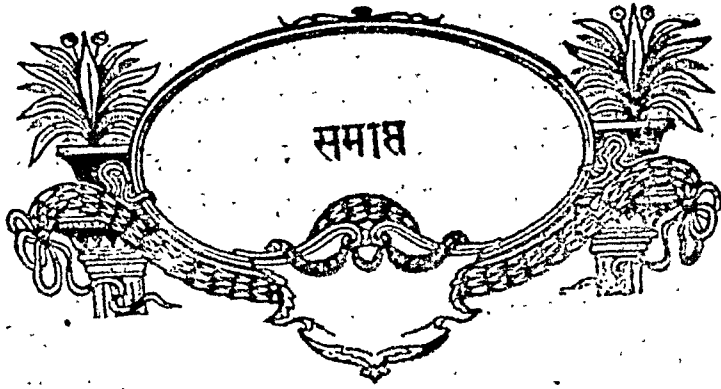
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु सदाचारं चरन्तु च ॥